Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचनात्मक अध्ययन — १७

(प्रश्नोत्तर रूप में)

कबीर

— राजनाथ शर्मा
एम. ए.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या ....Y.....
97

आगत संख्या 04367

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर

[आलोचनात्मक अध्ययन]

04367

पं० विद्याधर विद्यालंकार
स्मृति संग्रह

लेखक—
श्री राजनाथ शर्मा एम० ए०

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

[सर्वाधिकार प्रकाशक के आधीन]
प्रथम संस्करण नवम्बर—१९५५
मूल्य २॥)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

सामाजिक एवं धार्मिक विषमताओं और बाह्याडम्बरों पर निर्मम प्रहार करने के साथ-साथ प्रेम-मूलक भक्ति की सरस एवं गहन तन्मयता की अजस्र धारा को प्रवाहित करने वाले महात्मा कबीर का व्यक्तित्व हिन्दी-साहित्य में सबसे विचित्र और विवादग्रस्त रहा है। उनके विषय, विचार, भाषा, काव्य-सौन्दर्य, रहस्यवाद, प्रतिभा, कृतित्व, जाति आदि के विषय में विद्वानों के मत परस्पर विरोधी रहे हैं। कोई उन्हें उच्च-कोटि का प्रतिभा-सम्पन्न कवि मानता है तथा कोई उन्हें काव्य-शक्ति से शून्य मानता है परन्तु सब उनके अद्भुत एवं मानव-कल्याण-रत व्यक्तित्व को स्वीकार कर उनके विषय में लिखने को विवश हुए हैं। उनकी निर्मम परन्तु सत्य कटूक्तियों को पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति सोचने को विवश हो उठता है और उनके भक्ति-विषयक उद्गारों को पढ़कर इस व्यक्ति के निर्मल एवं कोमल व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धान्वित हो उठता है।

प्रस्तुत पुस्तक में कबीर के इन्हीं परस्पर-विरोधी व्यक्तित्वों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्ययन में लेखक का अपना बहुत कम है। उसने कबीर-विषयक साहित्य का अध्ययन कर विभिन्न विद्वानों के मतों, दृष्टिकोणों एवं आलोचनाओं का एक स्थान पर, सुचारु रूप से संग्रह कर, विद्यार्थियों की कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न किया है। स्थान-स्थान पर अपना मत देने की भी धृष्टता की है।

प्रस्तुत पुस्तक का मूलाधार निम्नलिखित ग्रन्थ रहे हैं—

१—कबीर की विचारधारा—डा० त्रिगुणायत।

२—कबीर-साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

३—कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

४—हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

५—कबीर-ग्रन्थावली की भूमिका—डा० श्यामसुन्दरदास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अनेकों निबन्ध-संग्रहों, मासिक पत्र-पत्रिकाओं एवं अन्य ग्रंथों से भी सामग्री का संकलन किया है। लेखक को सबसे अधिक सहायता डा० त्रिगुणायत एवं श्री परशुराम चतुर्वेदी के उपरोक्त ग्रन्थों से मिली है। इसलिए लेखक, वैसे तो सभी विद्वानों का, परन्तु विशेष रूप से उपरोक्त दोनों विद्वानों का विशेष आभारी है। जहाँ-जहाँ से सामग्री ली गई है वहाँ वहाँ उसका उल्लेख कर दिया गया है। हो सकता है कि कुछ स्थलों पर नामोल्लेख न हो सका हो, इसके लिए लेखक क्षमा प्रार्थी है।

इस पुस्तक में लेखक ने कुछ प्रश्न उठाए हैं जो विद्वानों के लिए ध्यान देने योग्य हैं। उन पर प्रकाश डालना अधिकारी विद्वानों का ही काम है, इस लेखक जैसे साहित्य के अकिंचन विद्यार्थी का नहीं।

आशा है यह पुस्तक कबीर-साहित्य के विद्यार्थियों को लाभ-प्रद सिद्ध होगी। लेखक का उद्देश्य तो यही रहा है परन्तु उसकी सफलता एवं असफलता की कसौटी पाठकों की सम्मति ही होगी।

एक बात और।

कुछ तथाकथित मौलिकता का दावा करने वाले लेखक इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययनों को हीन दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वास्तविकता यह होती है कि वे अपने दम्भ के मोह में पड़कर अपनी असंगतियों से भरपूर, ऊट-पटांग आलोचनाओं को तो मौलिक कहते हैं और इस प्रकार के ग्रन्थों को जिसमें लेखक को उनसे कई गुना अधिक परिश्रम करना पड़ता है, उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। और होता यह है कि इन पुस्तकों के बिना उनका काम भी नहीं चल पाता। वे इन्हीं में से सामग्री लेकर, उसमें कुछ परिवर्तन कर, उस पर अपनी मौलिकता की तथाकथित छाप लगाकर, विद्यार्थियों के सन्मुख अपनी विद्वता की धाक जमाने का प्रयत्न करते हैं।

दीपावली, २०१२
नागरी प्रचारिणी सभा
आगरा।

राजनाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

प्रश्न १—संत-काव्य का विकास दिखाते हुए कबीर के समय की विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन कीजिये । १

प्रश्न २—कबीर की जन्म-तिथि सम्बन्धी विविध मतों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए । ८

प्रश्न ३—कबीर के जन्म स्थान, जाति, परिवार, गुरु तथा जीवन के सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए । १४

प्रश्न ४—कबीर के ग्रंथों का उल्लेख करते हुए उनकी संक्षिप्त विवेचना कीजिए । २३

प्रश्न ५—सन्त साहित्य पर एक संक्षिप्त विवेचनात्मक निबन्ध लिखिए । २८

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिए कि कबीर अपने युग के एकमात्र युगद्रष्टा, सजग प्रहरी और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा थे । ३३

प्रश्न ७—तत्कालीन प्रचलित विभिन्न धार्मिक मतों के सम्बन्ध में कबीर के खंडनात्मक दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये । ४२

प्रश्न ८—कबीर-मत की संक्षिप्त विवेचना करते हुए उन पर वैष्णव मत का प्रभाव दिखाइये । ४८

प्रश्न ९—कबीर पर नाथ पंथियों के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए । ५४

प्रश्न १०—कबीर मत पर इस्लाम एवं सूफीमत का प्रभाव स्पष्ट कीजिए । ६२

प्रश्न ११ (ए)—कबीर के ब्रह्म विषयक विचारों की विशद विवेचना कीजिए । ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न ११ (बी)—कबीर के आत्मा अथवा जीव सम्बन्धी मतों का स्पष्टीकरण कीजिए। ७२

प्रश्न १२—कबीर के माया सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए। ७५

प्रश्न १३—कबीर के जगत अथवा सृष्टि विषयक विचारों की विवेचना कीजिए। ८३

प्रश्न १४—कबीर की भक्ति-भावना का विशद् निरूपण कीजिए। ८८

प्रश्न १५—कबीर की योग-साधना पर अपने विचार प्रकट कीजिए। ९७

प्रश्न १६—रहस्यवाद की संक्षिप्त विवेचना करते हुए कबीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालिए। १०५

प्रश्न १७—कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए। ११६

प्रश्न १८—"प्रतीकों के रूप में कुछ न कुछ ऐसी व्यंजना रहती है जिससे भावनाओं के विकास के संकेत मिल जाते हैं।" इस दृष्टि से कबीर के काव्य की समीक्षा कीजिए।" १३४

प्रश्न १९—कबीर की उलटवांसियों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। १४१

प्रश्न २०—कबीर की भाषा एवं रचना-शैली पर एक सारगर्भित निबंध लिखिए। १४६

प्रश्न २१—कबीर के काव्य में प्रयुक्त छन्दों एवं अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए। १५२

प्रश्न २२—कबीर साहित्य में प्रयुक्त कुछ परम्परागत पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। १५७

प्रश्न २३—सिद्ध कीजिए कि कबीर की कविता भक्त कवियों की विनयशीलता और आत्म भर्त्सना के बीच में स्पष्ट कण्ठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कही गई धार्मिक और सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित विवेचना है। १६२
प्रश्न २४—"कबीर आत्म-विस्मयकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय दैनन्दिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते, उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं। उनके महिमा समन्वित और आवेगमय विचार धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं।" इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए। (नोट—ये वाक्य एवेलिन अंडरहिल ने कबीर के विषय में कहे हैं।) १७२
प्रश्न २५—"कबीर ने अपनी प्रखरभाषा और तीखी भाव-व्यंजना से जिस काव्य का सृजन किया वह साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण भले ही कर गया हो, किन्तु उसके द्वारा साहित्य और धर्म में युगान्तर अवश्य आया।" इस कथन की युक्तियुक्त मीमांसा कीजिये। १७६
प्रश्न २६—"कबीर और तुलसी के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे।" इस कथन की तर्क पूर्ण समीक्षा कीजिए। १८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर

प्रश्न १—संत-काव्य का विकास दिखाते हुए कबीर के समय की विभिन्न परिस्थितियों का विवेचन कीजिये।

उत्तर—सन्त-काव्य का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के प्रथम चरण से माना जाता है। इस काव्य का उद्‌भव ऐसे समय हुआ था जब उत्तरी भारत में इस्लाम का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था। चौदहवीं शताब्दी में तुगलक बादशाहों के समय में देश में धार्मिक और राजनैतिक अत्याचारों की बाढ़ सी आ गई थी। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में तैमूर के आक्रमण और उसके भयंकर अत्याचारों ने हिन्दुओं की धार्मिक और जातीय नींव को हिला डाला। देश में दरिद्रता, अराजकता और निराशा का वातावरण छा गया। इसके पश्चात् लोदी वंश के सिकन्दर लोदी ने सिंहासनारूढ़ होकर धार्मिक अत्याचार की इस परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। परिणाम स्वरूप इस राजनीतिक अशान्ति और हिन्दुओं की आन्तरिक फूट से देश जर्जर हो रहा था। मुस्लिम प्रभुत्व के स्थापित हो जाने के उपरान्त राजपूतों का शौर्य मन्द पड़ चुका था। फलस्वरूप वीरगाथा कालीन भावना लुप्त हो गई।

सामाजिक क्षेत्र में हिन्दू और इस्लाम, दो संस्कृतियों एवं विचारधाराओं का परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। इस्लाम के आगमन ने भारतीय धर्म-मत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर डाला था। हिन्दू धर्म की अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति व्यवस्था को जबरदस्त ठोकर लगी थी। सम्पूर्ण भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। हिन्दू संस्कृति अपनी पूर्णता और प्राचीनता का दम्भ लिए अपने अस्तित्व-रक्षा का प्रयत्न कर रही थी और नवीन धार्मिक उन्माद से अनुप्राणित इस्लाम संस्कृति उस पर हावी होना चाह रही थी। फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक घृणा-भाव वृद्धि पर था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्षा की भावना ने हिन्दुओं के सामाजिक बन्धनों को अधिक दृढ़ और संकुचित बना दिया। इसलिए इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में सच्ची धार्मिकता गौण होगई। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही थी कि उसने इससे पूर्व बाहर से आने वाली सम्पूर्ण नवीन सांस्कृतिक धाराओं को आत्मसात कर उन्हें अपने धर्म और संस्कृति का एक अङ्ग बना लिया था। परन्तु जब इस्लाम ने अपने नवीन धार्मिक उन्माद में सारे संसार से कुफ्र को मिटा देने की प्रतिज्ञा की और इसके लिए सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया तो भारतीय उसे ठीक तरह से समझ नहीं पाए। इसी लिए कुछ दिनों तक उनकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित रही।

हिन्दुओं की अपनी सामाजिक स्थिति भी संकट ग्रस्त थी। द्विजों की धार्मिक उच्चता और दम्भ की भावना ने समाज के निम्नवर्ग शूद्रों में उनके विरुद्ध विद्रोह की भावना उत्पन्न कर रखी थी। बौद्धों ने विद्रोह की इस भावना को खूब उकसाया था। बाद में सिद्धों और नाथों ने वेद और ब्राह्मणों का विरोध कर इस भावना को और भी आगे बढ़ाया। इस्लाम की सामाजिक समानता की भावना ने शूद्रों को अपनी ओर आकर्षित किया। इसलिये कुछ तो राजनीतिक अत्याचारों के कारण तथा कुछ इस्लाम के इस नवीन आकर्षण के कारण निम्न वर्ण के हिन्दू अपने धर्म का परित्याग कर मुसलमान बनने लगे।

धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक आचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हो चुका था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ संकीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन के प्रवाह के साथ बहती चली आई थी परंतु इसका व्यापक प्रभाव नहीं पड़ सका था। कालान्तर में शंकराचार्य ने बौद्ध-धर्म का उन्मूलन कर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया परन्तु साधारण जनता के लिए अगम्य इस भावना से उसे तृप्ति न हो सकी। बाद में रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद आया पर महमूद गजनवी के एक ही गदा-प्रहार ने हिंदुओं के सम्मुख उसकी निस्सारता प्रमाणित कर दी। कोई भी धार्मिक सिद्धान्त स्वयं अपने में अत्यन्त निर्मल, शुद्ध, पवित्र और सशक्त हो सकता है परन्तु यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिक क्षेत्र में उसका क्रियात्मक प्रभाव असफल हो जाता है तो साधारण बुद्धि वाली जनता उसे ग्रहण करने में संकोच करने लगती है। केवल दार्शनिक सिद्धान्त और उपदेश उसे सन्तोष नहीं दे पाते। वह उनकी व्यावहारिक सफलता का प्रदर्शन चाहती है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य प्रभृति दार्शनिकों ने परमात्मा की भिन्न-भिन्न व्याख्या की परन्तु जनता पर उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका। इन व्याख्याओं का स्वागत केवल उच्चवर्ग द्वारा ही हुआ। वे उसका समाजीकरण करने में असमर्थ रहे। आगे चलकर कबीर आदि सन्तों ने सिद्धान्तों की इस निर्बलता को पहचाना और वे ब्रह्म को उसके दार्शनिक उच्च स्थान से नीचे उतार कर जनता के बीच में ले आए। परन्तु फिर भी ब्रह्म का स्वरूप निराकार होने के कारण अधिक स्पष्ट और आकर्षक नहीं हो सका। इस कमी को सूर और तुलसी ने समझा और कृष्ण और राम के सुन्दर, शक्तिशाली और आकर्षक रूप में जनता का ब्रह्म जनता को दिया। ब्रह्म के इस नवीन एवं साकार रूप को जनता ने ललक कर अपना लिया और एक बार सारा भारत राम और कृष्ण के गुणगान से ध्वनित हो उठा।

कबीर से पूर्व की उत्तर भारत की धार्मिक स्थिति के प्रभाव के परिणाम स्वरूप निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति हूई। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में समाज पर सिद्धों और नाथपंथियों का व्यापक प्रभाव था। इन दोनों ही सम्प्रदायों के मुखिया और अनुयायी प्रायः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ प्राणी थे। नाथ-सम्प्रदाय के कनफटे योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि की ओर संकेत करने वाली रहस्यपूर्ण बातों द्वारा जनता पर अपना प्रभाव जमाते थे। साथ ही जाति-पांति और वेदाध्ययन को व्यर्थ बताकर हिन्दू समाज के उपेक्षित अङ्ग--अछूत वर्ग—के मन में उच्च वर्ग के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना भर रहे थे। दूसरी तरफ शक्ति के उपासक कौल, कापालिक आदि 'त्रिपुर-सुन्दरी' की कामलिप्त तांत्रिक उपासना द्वारा जनता को गुमराह कर उसे धर्म के वास्तविक स्वरूप से बहुत दूर हटा ले गए थे। सिद्धों-संतों आदि की सबसे बड़ी निर्बलता यह थी कि भक्ति-भावना के लिए उनके पन्थ हृदय-पक्ष शून्य थे। इस रसहीनता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण सन्त और सूफ़ी, जो ब्रह्म के निराकार स्वरूप की उपासना में तन्मय रहते थे, इसे पूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ रहे। इस अभाव की पूर्त्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने की। भक्ति की इस नीरस धारा में सरसता लाने का सम्पूर्ण श्रेय वैष्णवों की सरस भक्ति भावना और सूफियों की प्रेम भावना को है। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता. शंकर के मायावाद, सूफियों के प्रेमवाद, इस्लामी एकेश्वरवाद आदि तत्कालीन प्रचलित विभिन्न उपासना पद्धतियों से प्रभावित जनता के बीच कबीर का प्रादुर्भाव हुआ था। उपरोक्त सम्पूर्ण पद्धतियों में से कोई भी पद्धति एकाकी रूप से न तो जनता को ही सन्तोष दे सकी और न उसके प्रति निधि कबीर को ही। कबीर तत्वग्राही थे इसलिए उन्होंने उपरोक्त सम्पूर्ण पद्धतियों से उनके अच्छे तत्वग्रहण कर अपने 'निगु‍ण पंथ' की स्थापना की। उन्होंने बाह्य धर्माचारों के आडम्बरपूर्ण आचारों का खंडन करने के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और निराकार के प्रति सूफियों की प्रेम-भावना को लेकर एक नए प्रकार की भक्ति का प्रचार किया जिसमें साकारोपासना और निराकारोपासना दोनों ही के तत्व विद्यमान थे।

इन सन्तों द्वारा प्रतिष्ठापित भक्ति-भावना के उद्‌गम के मूल के विषय में देशी विदेशी विद्वानों में भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं इसलिए कबीर के समय की परिस्थितियों के विश्लेषण के साथ यह भी देखना आवश्यक है कि भक्ति की यह भावना एकाएक किसी बाह्य प्रभाव से उत्पन्न हुई थी या उसकी पृष्ठभूमि में एक कालान्तर से चली आती हुई अविच्छिन्न परम्परा ने अपना नया स्वरूप पाया था।

उत्तर भारत में मुसलमानों के हावी हो जाने से हिन्दी के कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। इसलिए काव्य को राजदरबार से पलायित होकर विरक्त साधुओं की कुटिया में आश्रय प्राप्त हुआ और वीरगाथाकालीन आश्रयदाताओं के स्थान पर देश का समस्त वातावरण निराकार भगवान के कीर्त्तिगान से ध्वनित हो उठा। भारत की आध्यात्मिक कविता की धारा, जो कुछ समय से दबी हुई थी, अपेक्षाकृत शान्त वातावरण पाकर पुनः उभर आई। भक्ति की इस प्रबल धारा से आश्चर्य चकित होकर प्रसिद्ध विदेशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वान ग्रियर्सन ने लिखा था—"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के समक्ष पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है। इस युग में धर्म 'ज्ञान' का ही नहीं भावावेश का विषय हो गया था। बिजली की चमक के समान समस्त प्राचीन धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई।" आगे चलकर ग्रियर्सन ने भक्ति की इस धारा के मूल में ईसाई सन्तों की भक्ति-भावना का प्रभाव माना है। यूरोपीय विद्वान प्रत्येक नवीन और अच्छी बात का सम्बन्ध सदैव से यूरोप से जोड़ते चले आए हैं। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए गियर्सन ने भी भक्ति की इस नवीन (?) धारा को ईसाईयत की देन माना। इस धारणा के मूल में उनका भारतीय परम्परा और संस्कृति का अपूर्ण अध्ययन, पक्षपात और भ्रान्त धारणा ही कार्य कर रही थी। इस कथन का अब सर्वथा खंडन कर भारतीय विद्वानों ने भक्ति का सम्बन्ध एक ऐसी परम्परा से सिद्ध कर दिया है जो शताब्दियों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी।

भक्ति के उदय और प्रसार का दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू त्रस्त और निराश होकर उस दीन रक्षक परमात्मा से प्रार्थना करने लगे। यह तर्क भी निराधार और असंगत है क्योंकि उत्तर भारत में जब धार्मिक अत्याचार हो रहे थे उस समय निरापद एवं शान्त दक्षिण भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। उत्तर भारत में उसका प्रभाव अपेक्षाकृत क्षीण था। यह भक्ति की धारा 'अचानक बिजली के समान' उत्पन्न नहीं हुई थी। इसके लिए सहस्रों वर्षों से मेघखंड एकत्रित हो रहे थे। दक्षिण में वैष्णव भक्ति पनप रही थी। दक्षिण के आलवार भक्त इसके पुरस्कर्त्ता कहे जाते हैं। आगे चलकर उन्हीं की परम्परा में रामानुजाचार्य हुए थे जिन्हें भक्ति-भावना को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है। उधर उत्तर भारत में भी पौराणिक शास्त्र का आधार लेकर भक्ति-भावना का प्रसार किया जा रहा था। यहाँ की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी। साधारण जनता स्मृति मतावलम्बी थी। शैवमत भी पर्याप्त शक्तिशाली था। शाक्त भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता को प्रभावित कर रहे थे। परन्तु इस नवीन भक्तिधारा एवं पूर्ववर्त्ती भक्तिधारा में अन्तर था। पूर्व विश्वास के अनुसार भगवान साधुओं के परित्राण और दुष्टों के दमन के लिए अवतार धारण करते हैं परन्तु भक्ति के इस युग तक आते-आते यह विश्वास किया जाने लगा कि—"भगवान के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना ही है। भक्त भगवान के चरित का अनुशीलन किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं। भागवत का मुख्य प्रति-पाद्य विषय एकान्तिक भक्ति ही है। कैवल्य के अपुनर्भव को भी भक्त उसके सामने तुच्छ समझता है। मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी एकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है।" कबीर आदि भक्तों की भक्ति भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की थी।

भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान डा० रांगेयराघव भक्ति की उक्त परम्परा का संक्षेप में निरूपण करते हुए बताते हैं कि न तो भक्ति का उद्भव राजनीतिक अत्याचारों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था और न किसी विदेशी प्रभाव के कारण। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के पहले से यह धारा चली आ रही थी। आपके शब्दों में—"भक्ति-आन्दोलन के प्रतिपक्षी और पक्षी इस्लाम और हिन्दू उस समय नहीं थे, उस समय थे—निम्न जातियाँ और ब्राह्मण तथा उच्चजातियाँ। दक्षिण के अडयार और आलवारों से प्रारम्भ हुआ भक्ति का प्रवाह पाशुपातों में सम्बल पाता रहा, फिर भागवत सम्प्रदाय बनकर वैष्णवों में पल्लवित हुआ और उसका शैव समानान्तर लिंगा-यतों में प्रकट हुआ। पूर्व में सहजयान भक्ति के रूप में बदल गया। समस्त भक्ति-सम्प्रदाय उच्चवर्गों के अधिकारों के विरुद्ध था।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि भक्ति की यह भावना न तो ईसाइयत की देन थी और न राजनीतिक अथवा धार्मिक अत्याचारों के ही परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई थी। इसका विकास स्वाभाविक और परम्परा-गत था। किन्तु आदि काल या वीरगाथा काल में इस विकास की धारा अत्यन्त क्षीण, अस्पष्ट और लुप्त प्रायः रही। उस समय साहित्य के साथ उसका प्रत्यक्ष लगाव नहीं था। भक्तिकाल में आकर अनुकूल वातावरण और परिस्थितियाँ पाकर यह वेग से प्रवाहित हो उठी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त-काव्य की परम्परा की प्रथम झलक कुछ विद्वान जयदेव में देखते हैं परन्तु उसके मूल की खोज के लिए हमें इतिहास में और भी पीछे जाना पड़ेगा। ईसा की सातवीं आठवीं शताब्दी तक आते-आते बौद्धधर्म 'बज्रयान' का तन्त्रवादी रूप धारण कर चुका था। सिद्ध और योगी बौद्ध धर्म के ध्वंशावशेषों के रूप में तारा, कृत्या आदि की तांत्रिक पूजा द्वारा जनता पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। समाज में अन्ध-विश्वासों का साम्राज्य था। इन तांत्रिकों का विरोध कर सरहपा, चूणिया, करेड़िया आदि महात्माओं ने अपनी व्यक्तिगत साधना के बल पर धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का बीजारोपण किया। कुछ विद्वान इन्हें हिन्दी का आदि कवि मानते हैं। इन्होंने परम्परागत काव्य भाषा संस्कृत और पाली का परित्याग कर जनभाषा अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी में अपनी वाणी मुखरित की। इन संतों पर भी बज्रयान का प्रभाव था परन्तु ये उसके अश्लील विधानों का विरोध करते थे। ये सभी अशिक्षित थे। इसलिए इनके ग्रन्थों का साहित्यिक मूल्य यद्यपि गौण है परन्तु उनका ऐतिहासिक मूल्य महत्वपूर्ण है। इन्हीं की परम्परा में आगे चलकर सन्त-साहित्य की रचना हुई। इसी परम्परा का विकसित रूप गोरखनाथ के नाथ-सम्प्रदाय में एवं व्यापक और पुष्ट रूप निर्गुणमार्गी ज्ञानाश्रयी शाखा में, जो सन्त काव्य की पराकाष्ठा है, पाया जाता है।

कालान्तर में इन प्राचीन सन्तों की अटपटी वाणी का उल्टा अर्थ लगाया जाने लगा जिससे कौल, कापालिक आदि कई नए सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। इनमें वासना और भोगलिप्सा का आग्रह बढ़ा। सिद्धों की सिद्धताई समाप्त हो गई। इसी समय गोरखनाथ ने मूर्त्तिपूजा, तंत्रवाद आदि का खंडन कर एकेश्वरवाद की स्थापना की। हठयोग इनका सहयोग पाकर पल्लवित हुआ। इन रहस्यवादी हठयोगी नाथों में जालन्धर, कणेरीनाथ, चरपटनाथ आदि अनेक प्रसिद्ध महात्मा हुए। इन्हीं की पृष्ठभूमि पर कबीर ने अपना साहित्य प्रतिष्ठित किया। कबीर सन्त काव्य के प्रथम और सबसे श्रेष्ठ कवि हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा हमने देखा कि कबीर का समय अत्यन्त जटिल समस्याओं का अखाड़ा बना हुआ था ऐसी परिस्थिति में उन्होंने राजनीतिक और आर्थिक [illegible] सामाजिक और धार्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों को ही अपनाया। उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के मूलभूत सिद्धान्तों को स्वीकार कर उनके बाह्याडम्बरों की जी खोलकर निन्दा की। धर्मों के बाह्याचारों एवं अन्ध-विश्वासों का खंडन कर केवल एक ईश्वर की उपासना पर जोर दिया जो सम्प्रदायों के राग-द्वेषों से परे है। तत्कालीन परिस्थितियों का बल एकत्र कर उन्होंने युग धर्म को पहचान कर एक निर्भीक सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें 'एकेश्वरवाद' और 'समत्व सिद्धांत' की भावना प्रमुख थी। एक ईश्वर की दृष्टि में 'कीड़ी' और 'कुंजर' समान हैं, ब्राह्मण और चांडाल में कोई भेद नहीं है। दोनों में एक ही ब्रह्म की ज्योति है। एकता की इस प्रबल भावना को लेकर कबीर जनता के सम्मुख आए और उसी की बोली में, उन्होंने विभिन्न संप्रदायों के बन में भटकती हुई जनता को सच्चा मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया। इस समय तक हिन्दुओं के समस्त धार्मिक साहित्य की रचना संस्कृत में तथा मुसलमानों की अरबी और फारसी में थी। अतः साधारण जनता धर्म के शास्त्रीय ज्ञान से सम्पर्क रखने में अपने को असमर्थ पाती थी। इसलिए कबीर ने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता की ही बोली में उपस्थित कर सर्व-सुलभ बना दिया। उसी बोली में जीवन की जटिल समस्याओं का सरल स्पष्टीकरण किया और धर्म और दर्शन के सिद्धान्त इतनी सरलता के साथ निरूपित किए जो सरलता से हृदयंगम किए जा सकते थे। जीवन के प्रत्येक अङ्ग की समीक्षा कर उन्होंने धर्म और जीवन का ऐसा आत्मीयतापूर्ण एवं सरल रूप इतना सुगम और साधना संपन्न बनाया कि वह जनता के प्राणों में निवास करने योग्य बन गया।

कबीर के समकालीन एवं परवर्ती सन्त-कवियों में जन कल्याण की यह भावना सर्वत्र उसी मंगल कामना के साथ दिखाई पड़ी। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन्त-साहित्य का महत्व इसी कारण इतना श्रेष्ठ एवं अप्रतिम माना जाता है।

———

प्रश्न २—कबीर की जन्म-तिथि सम्बन्धी विविध मतों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उत्तर—संस्कृत और साहित्य के अन्य प्राचीन विद्वानों के जीवन-वृत्त के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबन्ध में प्रामाणिक प्रमाणों के अभाव के समान कबीर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में भी विद्वान अभी तक किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच सके हैं। कबीर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में कबीर-पंक्तियों में प्रचलित दो एक दोहों के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं मिलता परन्तु उनकी निधन-तिथि के सम्बन्ध में परवर्ती सन्तों एवं टीकाकारों ने विभिन्न सम्वतों का उल्लेख अवश्य किया है। इस प्रकार विद्वानों ने उनकी निधन-तिथि के आधार पर ही उनकी जन्म-तिथि का अनुमान कर लिया है। परन्तु कबीर के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न किम्बदन्तियों को यदि सत्य मान लिया जाय तो कबीर की जन्म तिथियों और निधन तिथियों में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। कबीर के समय को प्रमाणित करने में दो ऐतिहासिक घटनाएं सबसे महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई हैं—सिकन्दर लोदी का काशी आगमन और कबीर पर अत्याचार तथा कबीर का स्वामी रामानन्द का शिष्य होना। अस्तु,

कबीर की जन्म-तिथि निश्चित करने के लिए पहले कबीर किस काल में हुए थे इसका विवेचन करना आवश्यक है। डा० त्रिगुणायत के कथनानुसार "कबीर की रचनाओं में केवल एक ही पंक्ति ऐसी है जिसके आधार पर उनके समय का अनुमान किया जा सकता है, वह है—

"गुरु परसादी जैदेव नामा।
भगति के प्रेम इन्हहि है जाना॥"

—कबीर ग्रन्थावली पृ० ३२८

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर जयदेव और नामदेव के पश्चात् हुए थे। जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी तथा नामदेव का समय तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है।

परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' नामक ग्रन्थ में कबीर का जन्म तिथि सम्बन्धी एक पद उद्धृत किया है—

"संवत् बारह सौ पाँच में, ज्ञानी कियो विचार।
काशी में प्रगट भयो, शब्द कह्यो टकसार॥"

इसके अनुसार कबीर का जन्म सम्वत् बारह सौ पाँच ठहरता है जो डा० त्रिगुणायत के उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर पूर्णतः असंगत सिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है। अतः इस पर विचार करना ही व्यर्थ है क्योंकि कबीर हर हालत में तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से पहले नहीं हुए थे।

कबीर के जन्म-समय के सम्बन्ध में कबीर पंथियों में एक दूसरा दोहा प्रचलित है—

"चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाठ भए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रकट भए॥"

इसके अनुसार कबीर का जन्म ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५५ में हुआ था। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार सम्भवतः इस दोहे का प्रचलन 'कबीर चरित्र बोध' नामक एक ग्रन्थ में दी हुई उनकी जन्म तिथि के आधार पर हुआ है।

कबीर की मृत्यु के बाद लिखे गए ग्रन्थों में कबीर का उल्लेख 'आइने अकबरी' में मिलता है जिसका रचनाकाल संवत् १५६६ माना जाता है। इससे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि संवत् १५६६ से पूर्व ही कबीर की मृत्यु हो चुकी थी। मौलवी गुलाम सरवर ने अपने ग्रन्थ 'खजीन अत्तुला असकिया' में कबीर का जन्म सम्वत् १६५१ (सन १५६४) माना है जो 'आइने अकबरी' के प्रमाण के सम्मुख पूर्ण असम्भव है। 'आइने अकबरी' से भी पूर्व कबीर का उल्लेख नाभादास कृत 'भक्तमाल' में आया है। भक्तमाल का रचनाकाल संवत् १५८२ है। डा० बड़थ्वाल ने कबीर का जन्म सम्वत् १४२७ के लगभग माना है।

विद्वानों ने, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर ही कबीर का समय निश्चित किया है—सिकन्दर लोदी का काशी आगमन और कबीर का रामानन्द का शिष्य होना।

कहा जाता है कि कबीर और सिकन्दर लोदी समकालीन थे। सिकन्दर लोदी जब एक आक्रमण के सिलसिले में काशी आया था तब उसने कबीर के विचारों से क्रुद्ध होकर उन पर अत्याचार किए थे और उन्हें मार डालने का प्रयत्न किया था। इस घटना की पुष्टि बहिस्साक्ष्य और अन्तस्साक्ष्य दोनों आधार पर हो जाती है। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी को छोड़कर लगभग सभी इतिहासकारों ने दोनों को समकालीन माना है। जान ब्रिग्स के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिकन्दर लोदी संवत् १५५१ में काशी आया था। अनन्तदास की 'परचई' नामक ग्रन्थ के अनुसार कबीर ने एक सौ बीस वर्ष की अवस्था पाई थी। इस हिसाब से सिकन्दर लोदी के काशी आगमन के समय कबीर की अवस्था ९६ वर्ष की होनी चाहिए। डा० रामकुमार वर्मा ने अन्य प्रमाणों के अभाव के कारण लगभग इसी समय कबीर की निधन-तिथि का अनुमान किया है। अतः उनके मतानुसार कबीर का जन्म संवत् १४५५ और मृत्यु संवत् १५५१ के लगभग हुई थी।

परन्तु डा० वर्मा के मत के विरोध में एक बाधा और उठ खड़ी हुई है। कहा जाता है कि कबीर की मृत्यु के समय उनके मुसलमान शिष्य बिजली खाँ और हिन्दू शिष्य बीरसिंह बघेला में उनके दफनाने और जलाने के सम्बन्ध में संघर्ष होगया था। आरकेलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया के अनुसार संवत् १५०७ में बिजली खाँ ने आमी नदी के दाहिने तट पर मगहर में कबीर शाह का रोजा बनवाया था तथा संवत् १६२४ में फिदईखाँ ने उसकी मरम्मत करवाई थी। किसी का रोजा उसकी मृत्यु के उपरान्त ही बनवाया जाता है। इस हिसाब से संवत् १५०७ में कबीर की मृत्यु हो जानी चाहिए। यदि इसे सत्य मान लिया जाय तो सिकन्दर लोदी के काशी आगमन से ४६ वर्ष पूर्व ही कबीर की मृत्यु हो चुकी थी। परन्तु डा० वर्मा इस तिथि को भ्रान्त मानते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि बिजली खाँ ने कबीर का रोजा अपनी भक्ति का प्रदर्शन करने के लिए उनकी जन्म तिथि के उपलक्ष में बनवाया होगा।

हम ऊपर कह आए हैं कि 'कबीर चरित्र बोध' नामक ग्रन्थ के अनुसार कबीर का जन्म "चौदह सौ पचपन विक्रमी ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार" है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'इण्डियन क्रोनोलोजी' के आधार पर गणित कर यह सिद्ध कर दिया है कि संवत् १४५५ की ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है। डा० त्रिगुणायक भी इस मत से सहमत हैं और इसी तिथि को अधिक उपयुक्त और तर्क सम्मत मानते हैं।

कबीर-विषयक अधिकाँश ग्रन्थों–नवीन एवं प्राचीन-में कबीर को रामानन्द का शिष्य माना गया है। यद्यपि कबीर ने अपने काव्य में कहीं भी रामा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्द का उल्लेख नहीं किया है परन्तु उन्होंने अपने गुरु की बहुत श्रद्धायुक्त होकर स्तुति की है। वर्तमान युग के लेखकों में केवल डा० भंडारकर और डा० मोहनसिंह ही रामानन्द को कबीर का गुरु नहीं स्वीकार करते। परन्तु यहां अभी हमारा उद्देश्य रामानन्द को कबीर का गुरु सिद्ध करना न होकर केवल इन दोनों का समकालीन होना ही सिद्ध करना है। रामानन्द के जन्म काल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। रामानन्द ने अपने 'वेदाँत सूत्र' के भाष्य में अमलानन्द रचित 'वेदान्त कल्पतरु' का उल्लेख किया है। अमलानन्द का समय डा० भंडारकर तेरहवीं शताब्दी मानते हैं। इस प्रकार वे अमलानन्द और रामानन्द को समकालीन मान कर रामानन्द का आविर्भाव काल सं० १३१७ के बाद या १३५७ के लगभग मानते हैं। अगस्त्य संहिता के अनुसार भी उनका जन्मकाल संवत् १३५६ या १३५७ ठहरता है। ग्रियर्सन भी इसी सम्वत् को मानते हैं।

अगर रामानन्द की जन्मतिथि संवत् १३५७ मान ली जाय तो कबीर के जन्म के समय उनकी अवस्था ९८ वर्ष की होनी चाहिए। डा० वर्मा का कहना है कि अगर कबीर ने बीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली होगी तो उस समय रामानन्द ११८ वर्ष के होंगे जो असम्भव नहीं है। श्री चेतनदास के "प्रसंग-पारिजात' नामक ग्रन्थ में कबीर का जन्म संवत् १४५५ और रामानन्द की मृत्यु संवत् १५०५ में मानी गई है। यदि यह ग्रन्थ प्रमाणिक है तो कबीर रामानन्द के समकालीन थे। 'भक्तमाल' में भी कबीर का नाम रामानन्द के शिष्यों की सूची में दिया गया है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त अनन्तदास रचित श्री कबीर साहिब जी की परचई और प्रसिद्ध भक्त सैनजी रचित 'कबीर अरु रैदास सम्वाद' के अनुसार भी कबीर रामानन्द के शिष्य ठहरते हैं। रैदास ने कबीर को अपना गुरुभाई माना है और रैदास रामानन्द के शिष्य थे। उपरोक्त प्रमाणों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि कबीर रामानन्द के शिष्य थे। परन्तु रामानन्द के काल को कुछ अन्य विद्वानों ने, जिनमें फर्कुहर और 'की' हैं, संवत् १४५७ से लेकर संवत् १५२७ तक माना है जिसके अनुसार रामानन्द का देहान्त ७० वर्ष की अवस्था में हो जाना चाहिए। डा० त्रिगुणायत उपरोक्त दोनों ही तिथियों को 'तर्क संगत और समीचीन' नहीं मानते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त पीपा रामानन्द के शिष्य माने जाते हैं और उनका समय संवत् १५४२ तक निश्चित किया जाता है। इस हिसाब से पीपा के जन्म के समय रामानन्द की अवस्था १२६ वर्ष होनी चाहिए जो ठीक नहीं मालूम पड़ती। वे रामानन्द ऐसे योगी की सत्तर बर्ष की अवस्था में मृत्यु हो जाने की बात को भी सत्य नहीं मानते। डा० त्रिगुणायत ने स्वामी रामानन्द को स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में पाँचवीं पीढ़ी में माना है। रामानुजाचार्य का समय संवत् १०७३ माना जाता है। इसमें चार पीढ़ियों के यदि ३०० वर्ष और जोड़ दिए जायं तो रामानन्द का समय लगभग १३७५ के आता है। डाक्टर साहब ने रामानन्द की मृत्यु तिथि को १५०५ स्वीकार कर तथा उनकी अवस्था विभिन्न उल्लेखों के आधार पर १२० वर्ष की मानकर उनकी जन्म-तिथि संवत् १३८५ मानी है। इस दशा में यदि कबीर की जन्म तिथि १४५५ मान ली जाय तो प्रमाणित हो जाता है कि वे रामानन्द के समकालीन थे।

जन्म तिथि के समान ही कबीर की मृत्यु तिथि भी अनिश्चित है। इनकी मृत्यु तिथि विषयक चार विभिन्न दोहे उद्धृत किये जाते हैं—

१—संवत् पन्द्रह सौ पछहत्तर कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी रलो पौन में पौन॥

२—पन्द्रह सौ औ पांच में मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादसी मिल्यो पौन में पौन॥

३—पन्द्रह सौ उनचास में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी, मिलौ पौन में पौन॥

४—सम्वत् पन्द्रह सौ उनहत्तरा हाई।
सतगुर चले उठ हंसा ज्याई॥

उपर्युक्त दोहों के अनुसार कबीर की मृत्यु तिथि क्रमशः संवत् १५७५, १५०५, १५४९, और १५६९ ठहरती हैं। इनमें से ऊपर दिए गए प्रमाणों के आधार पर संवत् १५७५ वाली तिथि ही अधिक संगत और ऐतिहासिक दृष्टि से शुद्ध प्रमाणित होती है।

कबीर के समय में दो घटनाओं के प्रमाण और उपलब्ध होते हैं—गुरू नानक से उनकी भेंट और कबीर के प्रसिद्ध शिष्य धर्मदास द्वारा संवत् १५२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही उनकी रचनाओं का संग्रह करना। गुरू नानक की जन्म तिथि संवत् १५२६ मानी जाती है और नानक ने २७ वर्ष की अवस्था में कबीर से भेंट की थी।

प्रश्न ३—कबीर के जन्म स्थान, जाति, परिवार, गुरु तथा जीवन के सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर—जन्म स्थान—कबीर के जन्म-स्थान के विषय में तीन विभिन्न मत हैं—मगहर, काशी और आजमगढ़ जिले का वेलहरा गाँव। कुछ लोग कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों के आधार पर उनका जन्म मगहर में होना मानते हैं—

तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे तन की तपन बुझाई।
पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई॥

कबीर ने स्पष्ट रूप से अपनी जन्मभूमि के विषय में कहीं भी नहीं लिखा। उन्होंने स्थान-स्थान पर केवल अपने निवास स्थान का ही उल्लेख किया है। उपरोक्त अवतरण में आए हुए 'दरसन' शब्द पर विद्वानों में मतभेद है। एक पक्ष इससे जन्म लेने का तथा दूसरा पक्ष ईश्वर दर्शन होने का अर्थ ग्रहण करता है। मगहर को इनका जन्मस्थान स्वीकार न करने वालों का कहना है कि कबीर सम्भवतः पर्यटन करते हुए मगहर गए होंगे और वहीं उन्हें या तो किसी सिद्ध पुरुष के या भगवान के दर्शन हुए होंगे अथवा ज्ञान की प्राप्ति हुई होगी। अतः मगहर को उनका जन्म स्थान नहीं माना जा सकता। यह मगहर गोरखपुर से १५ मील दूर बस्ती जिले में है।

कबीर-पंथियों के अनुसार "सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा था अथवा उक्त ताल में पुरइन के पत्ते पर पौढ़ा हुआ बालक नीरू जुलाहे की स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था।" इससे तो यही सिद्ध होता है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ था। परन्तु 'बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' के अनुसार कबीर का जन्म काशी या मगहर में न होकर आजमगढ़ जिले के वेलहरा गाँव में हुआ था। इस वेलहरा को उनका जन्म स्थान मानने का कारण कदाचित शब्द-साम्य ही प्रतीत होता है। 'लहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालाब,' जहां कबीर पन्थियों के अनुसार कबीर का जन्म हुआ था, का बेलहरा हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। इस शब्द साम्य के अतिरिक्त बेलहर में और कोई भी प्रमाण ऐसे नहीं मिले हैं जो यह सिद्ध कर सकें कि वही कबीर का जन्म स्थान है। कबीर पंथियों में इसके प्रति पूर्ण उपेक्षा है। पं० चन्द्रबली पाँडेय बेलहर को ही कबीर का जन्म स्थान मानने के पक्ष में हैं।

परन्तु कबीर साहित्य के मर्मज्ञ डा० त्रिगुणायत मगहर को ही कबीर का जन्म स्थान मानने के पक्ष में हैं परन्तु उनका यह मगहर बस्ती जिले का मगहर न होकर काशी का समीपवर्ती मगहर था। अधिकाँश जनमत काशी को कबीर का जन्मस्थान मानने के पक्ष में है इसलिए डा० त्रिगुणायत के इस काशी के मगहर को स्वीकार कर लेने में विशेष आपत्ति नहीं।

जनश्रुतियाँ और कबीर पंथी सभी काशी को ही कबीर का जन्मस्थान मानने के पक्ष में हैं। कबीर ने स्थान-स्थान पर अपने को काशी का जुलाहा कहा है। अपने काशी वास की अवधि को कबीर 'सगल जनमु सिवपुरी गवाइया' कह कर भी सूचित करते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत पुराने समय से अनन्तदास, धर्मदास आदि प्रायः सभी पुराने लेखक इन्हें काशी निवासी ही चित्रित करते आये हैं। इसलिए इनका जन्म और निवास स्थान काशी मानना ही अधिक संगत और समीचीन प्रतीत होता है

जाति—कबीर साहित्य में उनकी जाति की सूचक निम्नलिखित पंक्तियां मिलती हैं—

१—तू बाम्हन मैं कासी का जुलाहा बूझउ मोर गियाना।

२—कहत कबीर कार गह तोरी सूतहि सूत मिलाए कोरी।

३—तू बाम्हन मैं कासी का जुलाहा
मोहि तोहि बराबरी कैसे कै निबहै

४—जाति जुलाहा नाम कबीरा
बनि बनि फिरौं उदासी

५—परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरि को नाम अभै पददाता, कहै कबीरा कोरी॥

६—पिता हमारो बड्ड गुसाई तिसु पिता हउ किउ करिजाई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त पंक्तियों से कबीर जुलाहा, कोरी और गुसाईं जाति के ठहरते हैं। इनमें से जुलाहा और कोरी तो एक ही जाति के होते हैं। उनमें सिर्फ अन्तर इतना ही है कि जुलाहा मुसलमान और कोरी हिन्दू होते हैं परन्तु उनका पेशा एक ही है–कपड़ा बुनना। डा० बड़थ्वाल का मत है कि "जन-श्रुति के अनुसार वे जन्म से तो हिन्दू थे किंतु पालन मुसलमान के घर में हुआ था। परन्तु इस बात का प्रमाण मिलता है कि वस्तुतः उनका जन्म मुसलमान परिवार में हुआ था।" डा० बड़थ्वाल का अनुमान है कि कबीर का कुल जोगियों का था जो बाद में मुसलमान बन गए थे। परन्तु डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें न तो हिन्दू कुल का और न मुसलमान कुल का ही मान कर उन्हें जुगी जाति का मानते हैं। उनका कहना है कि जुगी जाति बाद में इस्लाम में दीक्षित हो गई होगी परन्तु कबीर पर अपनी जुगी जाति के परम्परागत संस्कारों का प्रभाव बना रहा होगा। डा० रामकुमार वर्मा भी इस मत से सहमत हैं। परन्तु डा० त्रिगुणायत इस मत से सहमत न होकर यह मानते हैं कि कबीर जुलाहा जाति के ही थे। सन्त साहित्य के मर्मज्ञ परशुराम चतुर्वेदी भी उन्हें जुलाहा जाति का ही मानते हैं। उनका कहना है कि कबीर के समकालीन समझे जाने वाले सन्त रैदास एवं धन्ना ने भी उन्हें जुलाहा माना है। इसके अतिरिक्त गुरू अमरदास, अनन्तदास, रज्जवजी, तुकाराम एवं विभिन्न इतिहासकारों के मतानुसार भी कबीर की जाति जुलाहा ही ठह-रती है। जनश्रुति के अनुसार कबीर का जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था परन्तु पालन पोषण नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति के यहां हुआ था। परन्तु रज्जब जी की एक पंक्ति—"जुलाहा ग्रभे उत्पन्यो, साध कबीर" से इनका जन्म जुलाहा कुल में ही सिद्ध होता है। सन्त रैदास की निम्नलिखित पंक्तियां—

"जाकै ईदि बकरीदि कुल गरू रे बधुकरहि, मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी करी, तिहूरे लोग परसिध कबीरा॥"

के अनुसार कबीर के कुल में ईद व बकरीद के त्यौहार मनाए जाते थे, गाय काटी जाती थी एवं शेख-शहीद तथा पीरों की मान्यता थी। सन्त पीपाजी ने भी इस बात का समर्थन किया है। साथ ही कहा जाता है कि जब कबीर को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भविष्यवाणी हुई कि तुम रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण करो तब उन्होंने कहा था, "देखें नहिं मुख मेरो मानि के मलेछ मोको।" आदि अन्य ऐसी अनेक बातों से प्रकट होता है कि कबीर जाति के मुसलमान थे। परन्तु जब हम उनके काव्य को मूलतः वैष्णव मत से प्रभावित देखते हैं तो उनके हिन्दू होने का निश्चय होता है। हिन्दू धर्म का इतना प्रभाव रामानन्द के कारण ही प्रतीत होता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि इनका जन्म ब्राह्मण कुल में और पालन पोषण मुसलमान कुल में हुआ था तो इससे भी कबीर को हिन्दू मानने की बात सिद्ध नहीं होती क्योंकि बालक का जहाँ पालन पोषण होता है उस पर वैसे ही संस्कारों का प्रभाव पड़ता है। रसखान भी तो मुसलमान थे परन्तु उनकी रचनाओं से कोई भी उन्हें मुसलमान नहीं बता सकता। यही बात कबीर के विषय में भी मानी जा सकती है। उन्हें गुसाईं मानने का प्रमाण तो बहुत ही निर्बल है। 'बड्डु गुसाईं' शब्द से भगवान से भी तात्पर्य हो सकता है। कबीर ने भगवान के साथ विभिन्न पारिवारिक सम्बन्ध जोड़े ही हैं। अतः यही मानना पड़ता है कि कबीर जाति से मुसलमान और कर्म एवं विचारों से हिन्दू मुसलमान दोनों से ही श्रेष्ठ थे।

परिवार—कबीर के माता-पिता के विषय में भी तीन मत हैं—

१—कबीर के रूप में ईश्वरीय शक्ति ने अवतार लिया था।
२—कबीर नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पत्ति के पोष्य पुत्र थे।
३—कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे।

आज के युग में दिव्य उत्पत्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता। सम्भवतः कबीर पंथियों ने कबीर के महत्व को बढ़ाने के लिए उनकी दिव्य उत्पत्ति की कल्पना कर ली हो। कबीर की रचनाओं से कहीं भी इस बात की ध्वनि नहीं निकलती कि वे नीरू और नीमा के पालित पुत्र थे। कबीर ने एकाध पदों में इस बात का उल्लेख अवश्य किया है कि वे पूर्व जन्म में ब्राह्मण थे किन्तु पापी होने के कारण राम ने उन्हें जुलाहा कुल में जन्म दिया था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पूरब जनम हम बामन होते, ओछे करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हा॥"

सम्भव है कि इस उक्ति द्वारा उन्होंने ब्राह्मणों पर व्यंग्य किया हो। 'ज्ञानसागर' नामक कबीर पंथी ग्रन्थ में इनके पोषक पिता को ही पूर्व जन्म का ब्राह्मण बताया गया है। नीरू द्वारा रामानन्द से शंका प्रकट करने पर उन्होंने कहा था कि—

"पूर्व जन्म तैं ब्राह्मण जाती। हरि सेवा कीन्हसि बहु भांती।
कछु तुव सेवा हरि की चूका। तातै भया जुलाहे को रूपा॥"

कबीर के पिता चाहे जो कोई भी रहे हों परन्तु इतना निश्चित है कि कबीर के प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त स्नेहपूर्ण रहा था। इसके लिए कबीर ने कहा है—

"बापि दिलासा मेरो कीन्हा।"

इसके विपरीत कबीर अपनी माँ के कारण बड़े दुखी थे। कबीर के कई पदों में इसका संकेत मिलता है जैसे—

"मुसि मुसि रोवै कबीर की माई।"

"हमारे कुल कउने रामु कहिओ।
जब की माला लइनिपूते तब ते सुख न भयो।"

इसीलिए जब वह मर गई तब कबीर ने कहा था—

"मुई मेरी माई हउ खरा सुखाला।"

कुछ लोगों का कहना है कि 'माई' का शब्द माया के लिए भी प्रयुक्त हुआ हो सकता है।

स्त्री—कबीर की रचनाओं से स्पष्ट होता है कि वे गृहस्थ थे और उनका विवाह हुआ था। कहा जाता है कि इनकी पत्नी का नाम 'लोई' था। इनके एक जीवन चरित्र लेखक का कहना है कि उनके कमाल व निहाल नामक दो पुत्र तथा कमाली और निहाली नामक दो पुत्रियाँ थीं जिनमें से अन्त में केवल कमाल बच रहा था। कमाल का रुझान धन पैदा करने के प्रति अधिक था। इसीलिए उसके लिए कहा गया था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बूढ़ा बंस कबीर का, उपजिओ पूतु कमाल।
हरि का सुमिरन छांड़ि कै, भरि लै आया माल ॥"

परन्तु कबीर पंथी लोगों ने कबीर को अविवाहित सिद्ध करने के लिए कमाली को किसी शेख तकी की पुत्री बताया है जिसे कबीर ने उसके मरने के आठ दिन बाद पुनर्जीवन प्रदान किया था। कमाली तभी से उनकी पोष्य-पुत्री हो गई। कमाल को भी उनका पोष्य-पुत्र या शिष्य कहा जाता है।

गुरु—कबीर के गुरु के सम्बन्ध में भी चार धारणायें है—

१—कबीर का कोई मानवी गुरु नहीं था।

२—कबीर शेख तकी के शिष्य थे।

३—कबीर रामानन्द के शिष्य थे।

४—कबीर पीताम्बर पीर को गुरुवत् मानते थे।

कबीर ने अपने गुरु का नाम कहीं भी नहीं लिया है। इसलिए डा० मोहनसिंह का कहना है कि कबीर का गुरु कोई मनुष्य न होकर केवल ब्रह्म, विवेक या शब्द था। इसके लिए उन्होंने 'गुरु-ग्रन्थ साहब' से निम्न-लिखित पद उद्धृत किया है—

"संता कउ मति कोई निन्दहु सन्त राम है एकु रे।
कहु कबीर मैं सो गुरु पाइया जाका नाउ विवेकु रे ॥"

परन्तु डा० रामकुमार वर्मा का कहना है कि—"कबीर ने अपने गुरु का नाम अपने काव्य में नहीं लिया है किन्तु इसका कारण उनके हृदय में गुरु के प्रति अपार श्रद्धा का होना कहा जा सकता है।" कबीर काव्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका गुरु कोई महापुरुष अवश्य था। इन्हीं से कबीर ने राम-नाम का गुरु मंत्र प्राप्त किया था। निम्नलिखित पदों से यह प्रमाणित हो जाता है—

"राम नाम का पटंतरै देबै को कछु नाहिं।
क्या लै गुरु संतोखिए हौंस रही मन माहिं ॥"

कबीर ने अपने गुरु से संसार की उत्पत्ति और रहस्य समझा कर बताने की प्रार्थना की है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गुरु चरण लागि हम बिनवंता पूछत कहु जीउ पाइआ।
कबन काजि जग ऊपजै बिनसै कछु मोहि समझाइया ॥"

साथ ही सतगुरु ने ही उन्हें जगत-पिता को प्राप्त करने का मार्ग दिखाया था—

"सतिगुर मिलेआ मारगु दिखाइआ।
जगत पिता मेरे मन भाइआ ॥"

उपरोक्त पदों से सिद्ध हो जाता है कि कबीर के कोई गुरु अवश्य थे। अब प्रश्न यह उठता है कि वे कौन थे? मैलकम, वेस्कट और डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने मौलाना गुलाम सरवर के ग्रन्थ 'खजीनअतुल असफिया' के आधार पर शेख तकी को कबीर का गुरु माना है। मौलाना साहब ने लिखा है कि—"शेख कबीर जुलाहा शेख तकी के उत्तराधिकारी और चेले थे।... उनके पीर शेख तकी की मृत्यु संवत् १६३२ में हुई थी।"

शेख तकी नामक दो सूफी पीर प्रसिद्ध हुए हैं—एक कड़ा-मानिकपुर के और दूसरें भूंसी के रहने वाले। कड़ा-मनिकपुर वाले शेख तकी की मृत्यु संवत् १६०३ में हुई मानी जाती है। इससे ये कबीर के समकालीन सिद्ध नहीं होते। परन्तु 'बीजक' के एक पद से यह प्रमाणित होता है कि कबीर मानिकपुर गए थे और वहाँ शेख तकी से उनकी भेंट हुई थी। यह घटना सत्य हो सकती है परन्तु इस भेंट में कबीर ने जिस ढंग से शेख तकी से बात की है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे उनके गुरु थे—

"नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख ॥"

गुरु को गोविन्द के तुल्य समझने वाला शिष्य अपने गुरु से इस तरह बातें नहीं कर सकता। भूंसी वाले शेख तकी से भी सम्भवतः कबीर की भेंट हुई थी। कबीर भूंसी का जाना वहाँ के कबीर वाले से भी प्रमाणित होता है। परन्तु यह कहीं से भी सिद्ध नहीं होता कि इनका और कबीर का गुरु-शिष्य का सम्बन्ध था। कबीर घुमक्कड़ और सत्संग के प्रेमी थे। उक्त दोनों शेखों की प्रसिद्धि सुनकर ही उन्होंने उनसे मुलाकात की होगी।

पीताम्बर पीर नामक किसी गोमती तीर निवासी महात्मा के कबीर भक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। वे प्रायः उनके दर्शन करने जाया करते थे। कबीर ने इसका उल्लेख किया है—

"हज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीताम्बर पीर॥"

श्रद्धा के साथ किसी महात्मा का नाम लेना ही यह प्रमाणित नहीं करता कि वह गुरू हो सकता है।

बहुमत रामानन्द को ही कबीर का गुरू मानने के पक्ष में है। यद्यपि कबीर ने कहीं भी रामानन्द का नाम नहीं लिया है परन्तु प्राचीन ग्रंथों, कबीर के एक पद, विचार-साम्य आदि के आधार पर रामानन्र ही उनके गुरु सिद्ध होते हैं। रामानन्द काशी के वासी थे। कबीर भी वहीं के निवासी थे और उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि—

"कबीर गुरु बसे बनारसी, सिष समदा तीर।
बिसारया नहीं बीसरे, जे गुण होय सरीर॥

उस समय काशी में रामानन्द ही सबसे अधिक प्रभावशाली और प्रसिद्ध महात्मा थे। एक दूसरी बात से यह और सिद्ध होता है कि रामानन्द ने ही रामभक्ति का प्रचार कर रामनाम का महत्व प्रतिपादित किया यूस्त कबीर ने भगवान के अन्य नामों की अपेक्षा राम नाम को ही सबसे अधिक महत्व दिया है। रामनाम का यह गुरुमंत्र उन्हें रामानन्द से ही मिला होगा इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं रह जाता।

भक्तमाल में नाभादास ने कबीर की गणना रामानन्द के शिष्यों में की है। 'दबिस्तान' के लेखक मोहसिन फानी (सन् १६७०) और भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास (सन् १६५५) स्पष्ट रूप से इस बात की पुष्टि कर चुके हैं। पण्डित सुधाकर पाँडेय ने कबीर का एक ऐसा पद उद्धृत किया है जिसमें कबीर ने स्पष्ट रूप से रामानन्द का उल्लेख किया है। इस पद की प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता विद्वानों के लिए विचारणीय है—

"आपन अये बहुतेरा : काहु न मरस पाव हरि केरा॥
इन्द्री कहां करै विसरामा। (सो) कहां गए जो कहत हुते रामा॥
सो कहाँ गए जो होत सयाना। होय मृतक वहि पदहि समाना॥
रामानन्द राम रस माते। कहहि कबीर हम कहि कहि थाके॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके परवर्ती अधिकांश ग्रन्थकारों ने भी इसी धारणा का समर्थन किया है। 'प्रसंग पारिजात' नामक ग्रन्थ के लेखक स्वामी अनन्तदास ने भी इसी बात का समर्थन किया है। स्वामी अनन्तदास रामानन्द की बर्षी के समय उपस्थित थे। इन प्रमाणों के अतिरिक्त कबीर और रामानन्द का समकालीन होना, उनकी समान विचार धारा, इसी मत की समर्थक अनेक किम्बदन्तियां आदि भी रामानन्द को कबीर का गुरु प्रमाणित करती है। इसी कारण डा० वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० बड़थ्वाल, डा० श्यामसुन्दरदास आदि कबीर साहित्य के मर्मज्ञ और डा० त्रिगुणायत जैसे कबीर पर अन्वेषण का कार्य करने वाले विशेषज्ञ इसी मत के पोषक हैं। परन्तु परशुराम चतुर्वेदी जैसे सन्त-साहित्य के विद्वान इस प्रसंग पर केवल इतना ही कह कर मौन हो जाते हैं कि—"जब तक कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता तब तक स्वामी रामानन्द, शेख तकी, पीताम्बर पीर वा किसी भी व्यक्ति को हमें कबीर साहब का गुरु वा पीर नहीं मान लेना चाहिए।" समझ में नहीं आता कि उपरोक्त प्रमाणों के होते हुए भी चतुर्वेदी जी और कौन से प्रमाण चाहते हैं। उनकी दृष्टि में भक्तमाल जैसा ग्रंथ भी अशुद्ध है।

यात्रायें—कबीर पढ़े लिखे नहीं थे यह उन्होंने स्वयं कहा है फिर उनके काव्य में विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों के जो वर्णन मिलते उनका ज्ञान उन्हें कैसे हुआ? इसके दो ही कारण हो सकते हैं—सत्संग और देश भ्रमण। देश भ्रमण करने से ही विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों के विद्वानों का सत्संग प्राप्त होना सम्भव होता है। पर्यटक की दृष्टि बड़ी तीखी और सारग्राही होती है। इसके प्रमाण स्वरूप कबीर का नाम उद्धृत किया जा सकता है। विभिन्न स्थानों पर प्रचलित किम्बदन्तियों से, कबीर के स्वयं के उल्लेख से तथा विभिन्न ऐतिहासिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों से इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि कबीर ने देश-देशाँतरों में भ्रमण किया था। भ्रमण करने में कबीर का उद्देश्य तीर्थ यात्रा, हज या केवल पर्यटन करने का नहीं था। वे केवल सत्य की खोज में इधर उधर घूमते रहते थे।

कबीर ने अपनी इन यात्राओं का संकेत निम्नलिखित पद में दिया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वृन्दावन ढूंढ्यो, ढूंढ्यो हो जमुना के तीर।
राम मिलन के कारनै जन खोजत फिरै कबीर ॥"

इस बात की पुष्टि 'दबिस्ताने मजाहिब' के लेखक मुहसिन फानी ने भी की है—"कहते हैं कि कबीर गुरु की तलाश में मुसलमानों और हिंदू कामिलों के पास गया। जो ढूंढ़ता था न पाया। आखिरकार एक शख्स ने पीर रोशनदिल रामानन्द बरहमन की तरफ उसको तवज्जह दिलाई।" इनका कड़ा मानिकपुर, झाँसी जाना भी प्रसिद्ध है। गोमती के तीर पर ये पीताम्बर पीर के पास भी प्रायः जाया करते थे। मगहर, रतनपुर और जगन्नाथपुरी में इनकी समाधियाँ होने से इन स्थानों की इनकी यात्रा भी प्रमाणित हो जाती है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने उनकी गुजरात यात्रा का वर्णन किया है। भड़ौंच से १३ मील दूर शुक्रतीर्थ के निकट किसी द्वीप में 'कबीर बट' नामक एक विशाल बट वृक्ष है। कहा जाता है कि कबीर ने इसे अपने स्पर्श द्वारा सूखा से हरा बना दिया था। 'हिस्ट्री आफ मरहठा पीपुल' में इनकी पंढरपुर यात्रा का उल्लेख किया गया है। 'कबीर मंसूर' ग्रंथ के अनुसार कबीर ने बगदाद, समरकन्द, बुखारे की भी यात्रा की थी। इनकी एक पंक्ति से यह भी सिद्ध होता है कि इन्होंने कई बार मक्का-मदीना की भी यात्रा की थी—

"कबीर हज कावे होइ होइ गइआ केती बार कबीर।"

इसके अतिरिक्त "बनि बनि फिरौं उदासी," तथा "फाटै दीदै में फिरों, नजर न आवै कोइ।" आदि कबीर के वाक्यों से भी उनकी भ्रमण लालसा एवं तीव्र उत्कण्ठा का पता चलता है।

सम्भवतः इन यात्राओं में से उनकी प्रारम्भिक यात्रायें एक जिज्ञासु के रूप में हुई होंगी और बाद में ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त स्वमत-प्रचारार्थ ये देश-विदेशों में भ्रमण करते रहें होंगे।

प्रश्न ४—कबीर के ग्रंथों का उल्लेख करते हुए उनकी संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

उत्तर—हम ऊपर कह आए हैं कि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे। इसलिए यह निश्चित है कि उन्होंने अपने हाथ से स्वयं कोई भी ग्रन्थ नहीं लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। यही बात सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है। जिस प्रकार सूर के पदों का लेखन और संग्रह कार्य उनके भक्तों, शिष्यों या अनुयायियों ने किया था उसी प्रकार कबीर की वाणी का भी संरक्षण इसी प्रकार किया गया होगा। कबीर पढ़े लिखे नहीं थे इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि उन्हें अक्षर-ज्ञान भी नहीं था। क्योंकि उनकी हिन्दी वर्णमाला के सम्पूर्ण अक्षरों को एक एक कर लिखी हुई 'बावन आखरी' नामक रचना को देखकर यह कहा जा सकता है कि वे बहुत थोड़े पढ़े थे। उनका अर्जित ज्ञान मुख्यतः उनके सत्संग और पर्यटन का ही परिणाम है। कबीर तरंग में आकर पदों की रचना करते जाते होंगे और उनके शिष्य उसी समय या बाद में उन्हें लिपिबद्ध कर लेते होंगे। अगर कोई विद्वान स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना करता है तो उसमें एक क्रम का निर्वाह पाया जाता है। परन्तु कबीर साहित्य में ऐसा कोई भी क्रम नहीं मिलता। उनकी प्राप्त सम्पूर्ण रचनाएं फुटकर पदों, साखियों, रमैनियों या अन्य प्रकार की कविताओं के रूप में है। इनमें से कुछ गेय और छोटी-छोटी हैं जिन्हें आसानी से कंठस्थ किया जा सकता है। गेय काव्य में सदैव परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कबीर साहित्य का जो रूप आज उपलब्ध है उसका मूल रूप भी वही रहा होगा। यह भी संभव है कि विचार और शैली साम्य के आधार पर अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं का भी इनकी रचनाओं के साथ संग्रह कर लिया गया हो। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि कबीर के विभिन्न संग्रहीत ग्रंथों के पदों की गठन और भाषा में कहीं-कहीं बड़ा अन्तर पड़ गया है। इसलिए कबीर की कविताओं के किसी भी संग्रह को पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कबीर के समस्त संग्रहीत ग्रन्थों देखकर यह निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनकी रचनाओं का सर्वप्रथम संग्रह किसने किया था। कहा जाता है कि कबीर के शिष्य धर्मदास ने सर्वप्रथम संवत् १५२१ में इनकी रचनाओं का संग्रह 'बीजक' के नाम से किया था। इसके पश्चात् सिक्खों के धर्म ग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहब' में कबीर की रचनाओं के रूप में लगभग सवा दो सौ पद एवं ढाई सौ 'सलोक' वा साखियाँ संग्रहीत की गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बीजक' और 'गुरु ग्रन्थ साहब' की भाषा की तुलना करने पर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'बीजक' की भाषा में 'ग्रन्थ साहब' की अपेक्षा नवीनता है। इसलिए डा० वर्मा आदि 'गुरु ग्रन्थ साहब' में संग्रहीत कबीर के वचनों को 'बीजक' की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक मानते हैं। क्योंकि उनका कहना है कि 'गुरु ग्रन्थ साहब' सिखों का धार्मिक ग्रन्थ है अतः उसमें परिवर्तन नहीं हुआ होगा। परन्तु चन्द्रवली पांडेय 'गुरु ग्रन्थ साहब' को इतना प्राचीन नहीं मानते। उनके अनुसार इसका संग्रह गुरु गोविंदसिंह (संवत् १७२३—६५) ने ६२ घंटे तक बोलकर ४४ लेखकों की सहायता से प्रस्तुत कराया था। इसलिए इनमें संग्रहीत कबीर के वचन उनकी मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष बाद के हैं। इस लम्बे समय में भाषा में पर्याप्त अन्तर आ गया होगा। फिर भी इतना निश्चित है कि गुरु ग्रन्थ साहब में संग्रहीत कबीर की रचनाओं का रूप अन्य संग्रहों की अपेक्षा काफी शुद्ध और प्राचीन है। 'बीजक' की भाषा और प्राचीनता के विषय में विद्वान खोज कर रहे हैं। अभी तक उसे पूर्ण रूप से शुद्ध और प्रामाणिक मानने के विषय में सन्देह का वातावरण है।

कबीर का दूसरा संग्रह 'श्री कबीर ग्रन्थावली' के नाम से काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किया गया गया है। इसका आधार स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास के हाथ लगी एक प्राचीन, संवत् १५६१ में लिखी गई, हस्त लिखित प्रति है। इसमें लगभग ५० साखियाँ और ५ पद गुरु ग्रन्थ साहब के ही समान हैं। शेष लगभग साढ़े सात सौ साखियाँ तथा चार सौ पद ऐसे हैं जो अन्य रचनाओं से भिन्न है। परन्तु आजकल विद्वानों को उक्त संवत् १५६१ वाली प्रति की प्रामाणिकता के विषय में भी संदेह होने लगा है। इस सन्देह का कारण यह है कि इस हस्तलिखित प्रति के अन्त में जो "सम्पूर्ण संवत् १५६१" आदि लिखा है उसकी लिखावट पुस्तक की लिखावट से भिन्न है। हमारे विद्वानों में सन्देह करने की कुछ आदत सी पड़ गई है। इसी सन्देह का शिकार 'पृथ्वीराज रासो' हो चुका है। अन्य वीरगाथाकालीन ग्रंथ भी इस आक्रमण से नहीं बच सके हैं। सन्देह अगर साधार हो तो ठीक होता है परन्तु लिखावट में जरा सा अन्तर पड़ जाने से ही सम्पूर्ण प्रति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रामाणिक करार कर देना असंगतसा लगता है। कबीर ग्रन्थावली को देखकर जो संदेह होता है वह उक्त लिखावट न होकर उसकी भाषा है। कबीर बनारस के रहने वाले थे और उनके जीवन का अधिकांश भाग वहीं व्यतीत हुआ था। इसलिए उनके काव्य की भाषा पूरबी हिन्दी होनी चाहिए परन्तु ग्रन्थावली की भाषा ७५ प्रतिशत पंजाबी है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसके दो कारण बताए हैं—१—कबीर के किसी पंजाबी शिष्य ने कबीर की रचनाओं का संग्रह करते समय पंजाबी शब्दों की भरती कर डाली होगी। २—कबीर पंजाब में काफी रहे होंगे इसलिए उनकी भाषा पर पंजाबी भाषा का अधिक प्रभाव पड़ गया होगा। इनमें से पहला कारण तो कुछ समझ में भी आता है परन्तु दूसरा कारण निराधार है। कोई भी, जब कि उसके जीवन का बहुत बड़ा भाग अपने ही देश में बीता हो, दूसरी बोली में कभी भी काव्य रचना नहीं करेगा। फिर पंजाबी कुछ ऐसी कर्णमधुर या व्यापक काव्यभाषा भी नहीं थी। इसलिए ग्रन्थावली की भाषा इसकी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न कर देती है। अभी इस पर शोध कार्य चल रहा है।

उपर्युक्त संग्रहों के अतिरिक्त व्याना में संवत् १८५५ की लिखी एक हस्तलिखित प्रति और मिली है जो प्राचीन और प्रामाणिक प्रतीत होती है। इसी प्रकार कबीर की कुछ रचनाएं 'रज्जबजी' की 'सर्वंगी' तथा 'पंचवाजी' नामक साम्प्रदायिक ग्रंथों में भी संग्रहीत है। कबीर की बहुत पीछे लिपिबद्ध की गई अनेक रचनाओं का प्रकाशन बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से भी हुआ है। 'गुरु ग्रन्थ साहब' के आधार पर डा० रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर' का सम्पादन किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'कबीर वचनावली' ने भी अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है। उपर्युक्त संग्रह तो अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

इन प्रकाशित संग्रहों के अतिरिक्त कबीर के नाम से प्रचलित सैकड़ों अन्य अप्रकाशित ग्रंथ भी उपलब्ध हुए हैं। विलसन के अनुसार कबीर के ग्रंथों की संख्या केवल आठ है। मिश्रबन्धुओं ने यह संख्या ७५ बताई है। वेस्कट ने ८२ ग्रन्थ कबीर रचित बताये हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में कबीर के ६१ ग्रन्थों की सूची पद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्या के साथ दी है। रामदास गौड़ इस संख्या को ७१ मानते हैं। वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'कबीर-सागर' में ४० ग्रन्थों का उल्लेख है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के अप्रकाशित विवरणों के अनुसार यह संख्या १३० तक पहुंच जाती है। इनके अतिरिक्त जनता में कबीर के नाम से अगणित ऐसी बानियाँ प्रचलित हैं जिन्हें किसी भी संग्रह में स्थान नहीं मिला है। समय के साथ साथ कबीर की बानियों की संख्या भी निरन्तर वृद्धि पर रही है और आजकल तो कबीर पंथी यह कहने लगे हैं कि कबीर ने लाखों की संख्या में बानियाँ कहीं थीं। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि कबीर ने "सहस छानवे औ छवलाखा। जुग परमान रमैनी भाषा।" अर्थात् युग धर्मानुसार छः लाख छियानवे हजार रमैनियों की रचना की थी। जिस प्रकार सूरदास द्वारा रचित सवालाख पद बताये जाते हैं परन्तु उपलब्ध अभी तक दस हजार भी नहीं हो सके हैं उसी तरह की अतिशयोक्ति कबीर की बानियों के लिए भी प्रचलित प्रतीत होती है।

कबीर साहब की सम्पूर्ण रचनाएँ 'साखी', 'सलोक', 'शब्द', 'बानी', 'बचन' वा 'उपदेश कही जाती हैं। इन्हीं के आधार पर इनके विभिन्न संग्रहों के विभिन्न नाम रख दिए गये हैं। ये समस्त पद भजनों के रूप में गेय रचनाएं हैं जिनमें इनके भिन्न भिन्न उपदेशों के साराँश हैं। इन्हीं में इनकी उलटवाँसियाँ भी हैं। इनकी "रमैनियों" का प्रचार केवल कबीर पंथियों तक ही सीमित है। इनकी रचना विशेष कर दोहे चौपाइयों में होने के कारण ये नित्य पाठ की चीजें बन गईं हैं। रमैनियों के एक संग्रह को 'बावन आखरी' तथा 'बीजक' में एक इसी प्रकार के संग्रह को 'ज्ञान चौंतीसा' कहा गया है। इनकी रचना वर्णमाला के अक्षरों को लेकर की गई है। इसी प्रकार तिथियों को लेकर की गई रचनाओं को 'थिंती' (तिथि) और वारों को लेकर की गई रचनाओं को 'बार' कहा गया है।

आजकल कबीर की मौखिक बानियों का संग्रह करने में कुछ विद्वान प्रयत्नशील हैं। परन्तु इनमें से यह निश्चित करना कि कौन सी बानियाँ कबीर की हैं तथा कौन सी उनके नाम पर प्रचलित हो रही हैं, बड़ा कठिन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न ५—सन्त साहित्य पर एक संक्षिप्त विवेचनात्मक निबंध लिखिए।

उत्तर- कबीर से पूर्व का सन्त-साहित्य अपरिपक्व एवं सन्त-विचार धारा का प्रारंभिक काल है। सिद्धों और नाथों की परम्परा अपनी अव्यावहारिकता के कारण अपना प्रभाव खो चुकी थी। हम पहले कह आए हैं कि कबीर ने इन्हीं की पृष्ठभूमि पर अपना साहित्य प्रतिष्ठित किया था। परन्तु कबीर ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य की नीरसता को दूर कर उसमें प्रेम और राग को प्रधानता देकर उसे सरस बना दिया था। इस प्रकार कबीर ने उसे एक नये रूप में उपस्थित किया था। कबीर का काल संतमत का प्रौढ़काल है। कबीर और उनके साथी तथा अनुयायी सभी सुधारवादी थे। उन्होंने धार्मिक वाह्याडम्बरों का खंडन कर एक 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा की थी। इनके मत पर एक ओर भक्ति, योग, एकेश्वरवाद के रूप में सिद्धों और नाथों का प्रभाव है तथा दूसरी ओर प्रेम की तीव्रता, भक्ति और माधुर्य उपासना के रूप में सूफियों का तथा वैष्णवों की अहिंसा तथा प्रेम का प्रभाव है। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा बुलन्द कर मूर्त्तिपूजा और बहुदेववाद का खंडन किया था। काव्य रचना करते समय उनका उद्देश्य सुन्दर काव्य का प्रणयन न कर केवल अपने मत का प्रचार करना था परन्तु उनकी भावुकता ने उनके काव्य में थोड़ी बहुत सरसता ला दी थी। सभी सन्त अक्खड़ थे। शुद्ध मानवता प्रेमी होने के कारण उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं पर निर्मम प्रहार किये थे। बुराइयों की कटु आलोचना कर सदुपदेशों का उपदेश दिया था। इसी कारण सन्त काव्य में नीरसता एवं रूखापन आगया है। उनके साहित्य में सन्देश का सौंदर्य तो मिलता है परन्तु साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है।

सभी सन्त कवि—एक सुन्दरदास को छोड़कर—अन्त्यज थे। उनके लिए शास्त्र, ज्ञान, मन्दिर, धर्म आदि के द्वार बन्द थे। इसीलिए इस तरफ से उदासीन होकर उन्होंने केवल अपनी अनुभूति के बलपर ईश्वरत्व की अनुभूति प्राप्त की। उसी अनुभूति की व्यंजना सन्त-काव्य कहलाई। एक विद्वान के शब्दों में, "उसमें वाणी का चमत्कार या प्रयत्न की बोझिलता नहीं, एक नैसर्गिक स्वच्छता और सरलता है। उसमें भावों की एक तीव्रता है जो स्वयं इतनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभावोत्पादक है कि उसे किसी बाह्य सम्बल की आवश्यकता नहीं।" सन्तों का ईश्वर निर्गुण और एक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता से वे परे हैं। इसी कारण कबीर के निधन पर हिन्दू और मुसलमान समान रूप से उनके शव पर अधिकार करना चाहते थे। ईश्वर के प्रति सन्तों का प्रेम अडिग, खरा और निर्मल है। उनकी इस भक्ति में वैष्णवी भक्ति का प्राधान्य होने के कारण 'गलदश्रु भावुकता' है। इस कारण उनका निराकार कुछ-कुछ साकार सा भासित होने लगता है। यही कारण है कि उनकी ईश्वरीय भावना में अस्पष्टता और असंगतता मिलतीं हैं।

भारतीय ब्रह्मवाद के रूप में सन्त-साहित्य अद्वैत की भावना से प्रभावित है। उसका ज्ञान और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। सन्त कवि माया की सत्ता और जीव ब्रह्म की एकता को स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया बाधक है। ज्ञान से इस माया का नाश किया जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वे विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति भावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैत भावना को नहीं। उन्होंने ब्रह्म की प्राप्ति के लिये ज्ञान और भक्ति दोनों का सहयोग माना है। ज्ञान भक्ति के अभाव में पंगु है। इसीलिये पूर्णता लाने के लिये उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय की वैष्णवी विशेषताओं को स्वीकार किया है। वैष्णव भावना व्यक्तिगत ब्रह्म के प्रति रागात्मक निवेदन है। इसी से सन्तों ने ब्रह्म को जननी, जनक, पति आदि माना है। भक्ति ही उनके लिये सब कुछ है। गुरु भक्ति और नाम कीर्त्तन भी वैष्णव भावना का ही प्रभाव है। सन्तों में लोक भावना का प्राधान्य भी वैष्णवों की देन है।

सन्तों पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का भी गहरा प्रभाव है। उनकी प्रेम-भावना के कारण सन्त मत बहुत महत्वपूर्ण और प्रभाव डालने वाला हो गया वरना उसके बिना यह भी नाथ-पंथ के समान शुष्क रह जाता और इसकी भी वही दशा होती जो नाथ पंथ की हुई। बाबू गुलाबराय के शब्दों में "सन्तों ने नीरस ब्रह्मवाद पर सरस सूफी प्रेमवाद की बड़ी सुन्दर कलम लगाई है।" परन्तु सन्तों का प्रियतम निर्गुण है इसीलिए उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करने में स्वभावतः रहस्य की भावना आगई है। साधना के क्षेत्र में सन्तों ने साधनात्मक रहस्यवाद को अपनाया है। इसमें हठयोग की विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियाओं का विशेष महत्व है। इन पर सिद्धों और हठयोगियों का व्यापक प्रभाव इसी रूप में पड़ा है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने धार्मिक वाह्याचारों का खंडन कर आत्म-परिष्कार कर ब्रह्म प्राप्ति का प्रयत्न किया है। सिद्धों और हठयोगियों ने रहस्यवादी बन कर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मनमाने रूपकों द्वारा अटपटी वाणी में पहेलियां बुझाने में सन्तों का मार्ग प्रदर्शन किया था। साथ ही सन्तों को उन्हीं से घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि की साधना करने और नाद, सुरति, निरति आदि शब्दों की परम्परा विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी। इस प्रकार हठयोग को संतों ने ब्रह्म प्राप्ति का साधन बनाया।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने देखा कि सन्त मत पर विभिन्न मतों का प्रभाव पड़ा है। सन्तों ने सभी मतों के प्रधान तत्वों को अपने मत में शामिल कर लिया परन्तु अशिक्षित होने के कारण वे इन तत्वों के वास्तविक रूप को समझने में पूर्णतः सफल नहीं हो सके। उन्होंने सुने सुनाये ज्ञान के आधार पर उच्च दार्शनिक तत्वों को रूपकों और उलटवांसियों द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया परन्तु साहित्यिक परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण उनका यह प्रयत्न अटपटा और दुरूह बन गया। इसी से उनके काव्य का अर्थ ढूंढ़ना विद्वानों के लिये भी आकाश कुसुम बन गया है। इनमें विभिन्न मतों की ऐसी बेमेल खिचड़ी है जो इनका एक प्रभावशाली रूप नहीं बनने देती। उनके विचार भी अपरिपक्व और अशास्त्रीय हैं। एक ओर वे कीर्त्तन की महत्ता बताते हैं तो दूसरी ओर ज्ञान की। कीर्त्तन में श्रद्धा का भाव प्रधान है पर वे श्रद्धा को कोई महत्व ही नहीं देते। एक ओर कर्मकाण्ड का विरोध करते हैं और दूसरी ओर हठयोग की साधना करते हैं। इस प्रकार के विरोधी तत्वों के अनमेल मिश्रण से उनका काव्य भरा पड़ा है। इसी असंगतता और विचित्र मनमाने मिश्रणों के कारण सन्तमत विद्वानों और समाज के उच्चवर्ग को प्रभावित करने में असमर्थ रहा। यदि इसका एक निश्चित दर्शन होता तो उस पर विद्वान अवश्य विचार करते। परन्तु एक निश्चित दर्शन का होना इसलिए असम्भव था क्योंकि लगभग सभी सन्त अशिक्षित और परम्परा से चले आते हुये दर्शनों के प्रति एक अवज्ञा की भावना रखने वाले थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त शाश्वत सत्यों और मर्यादाओं को बदलने में तत्पर थे क्योंकि उनके विचारानुसार ये मानवता के विकास में रोड़े थे। वे इन सत्यों एवं मर्यादाओं की केवल बाह्य रूपरेखा को ही समझ सके थे इसीलिए उनका मानवतावादी दृष्टिकोण उन्हें प्रेरित करता था कि वे इनका विरोध करें। जो कुछ भी हो, इस प्रयत्न से इतना लाभ अवश्य हुआ कि समाज में शुद्ध मानवतावाद का प्रचार बढ़ा। संत एक वर्गहीन समाज की स्थापना कर सबके लिये मुक्ति चाहते थे इसी कारण उन्होंने उस सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया जो उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में दबाती थी और उनके जन्म सिद्ध अधिकारों से उन्हें सदैव वंचित रखने का प्रयत्न करती थी। इसी कारण उन्होंने उस सगुण ब्रह्म का विरोध किया क्योंकि उनकी दृष्टि में तत्कालीन समाज में प्रचलित सगुण ब्रह्म का स्वरूप उच्चवर्गों के स्वार्थों का समर्थक और पोषक था। उसको स्वीकार करने का अर्थ उच्चवर्ग की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को स्वीकार करना था। उसे मान लेने से वर्गहीन समाज की स्थापना का स्वप्न भंग हो जाता क्योंकि सगुण ब्रह्म के उपासक सदैव से ही हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था के प्रबल समर्थक रहे थे। इतना महान उद्देश्य सम्मुख रहते हुए भी इन सन्तों को अपने प्रयत्न में यथेष्ठ सफलता नहीं मिल सकी।

सन्तों की उपरोक्त असफलता का कारण विद्वानों के अनुसार यह था कि निर्गुण ब्रह्म के उपासक बिखरे हुए थे। उनमें शंकर की सी स्पष्ट एवं सशक्त चिंतन शक्ति नहीं थी। इसीलिए उनमें से जिसको भी निराकार का जो रूप जहाँ भी और जिस रूप में भी मिल जाता था उसे वह अपने रूप में अपनाकर अपना एक सिद्धान्त निश्चित कर लेता था। इसी कारण सन्तों का ब्रह्म न तो पूर्णरूपेण निराकार ही रह सका और न पूर्ण रूप से साकार ही। उनकी शक्ति और चिंतन के स्रोत एक न होकर विभिन्न थे। वे पारस्परिक रूपमें उस ऐक्य का अनुभव नहीं करते थे जो सगुणवादी भक्तों को अपने आराध्य के ऐक्य के कारण सुगम था। इस भावना को स्पष्ट करते हुए डा० रांगेय राघव ने लिखा है कि—"निर्गुण सन्त समाज के उन क्षेत्रों से आए थे कि जिन्हें शताब्दियों से कुचला गया था। उन्हें पूर्ण शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें दब कर रहना पड़ता था। ··· ···वे अपनी सामाजिक व्यवस्था में अपने ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटे-छोटे भेदों में ग्रस्त समुदाय थे, जिन पर अन्ध विश्वास और अशिक्षा का अधिक प्रभाव था। निम्न जातियों के इस समुदाय में यह आत्म-विश्वास अन्ततोगत्वा जागा, वह शताब्दियों के नकारात्मक स्वर से था कि ओ विजेता तू कुछ भी नहीं है, तू मुझे हरा नहीं सकता, मैं अमर हूँ और रहूँगा।" सन्तों की इसी विशेषता का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा भी मुक्त कण्ठ से कह उठे हैं कि—"उन्होंने धर्म की रूढ़ियों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के अश्रुजल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलंक-रेखा धो डाली थी। इनके गीत दूर-दूर के गाँवों में इकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही है। भेद बुद्धि उनके पास नहीं फटकती। समाज के कर्णधारों की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमरवाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।" सन्त कवियों पर लगाए जाते रहे भाषा एवं शैली विषयक आक्षेप के उत्तर में डा० शर्मा का निम्नलिखित कथन ही यथेष्ठ है–"आज देश के नए सांस्कृतिक जागरण के लिए हमें ऐसी वाणी, ऐसे अलंकार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक ही तंत्र में तमाम जनता को बाँध सके। मध्यकालीन हिंदी कवियों ने विशेष रूप से सन्त कवियों ने अपनी वाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।" इसी आक्षेप का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विवेचन करते हुए एक बार कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा था—"नई हिंदी कविता से पुरानी सन्त वाणी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक में कौशल ज्यादा है लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता में सत्य अपने सहज वेश में प्रकट होता है वही अमर होती है और उस पर काल का दाग नहीं पड़ता।" सन्तवाणी ऐसा ही काव्य है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जन साधारण में जितना प्रचार कबीर आदि की वाणी का मिलता है उतना बिहारी, देव, केशव आदि सरस्वती के बरद उपासकों की वाणी का नहीं। इसका कारण यही है कि जन साधारण की बात जब उसी की भाषा में बिना किसी लाग-लपेट के कही जाती है तो जनता उसे अपना समझती है। बिहारी आदि काव्य रसिकों में भले ही लोक प्रिय हों किंतु अशिक्षित तथा सामान्य जनता में उनकी कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछ नहीं है। वहाँ तो कबीर ऐसे मानवता के पोषक, जनता की बात को जनता की भाषा में कहने वालों का ही साम्राज्य है।

परन्तु इस धारा में कुछ दोष भी थे। सबसे बड़ा दोष यह था कि इन्होंने स्वमत प्रचारार्थ खण्डनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण किया था। ये दलित थे इससे उच्चवर्गों द्वारा अपनी जाति की उपेक्षा को भूल न सके। इस विरोध की उग्रता के कारण उनके और उच्चवर्गों के मध्य द्वेष की एक खाई उत्पन्न हो गई और उनका प्रभाव दलित वर्ग तक ही सीमित रह गया। उच्च वर्ग ने इनकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरा दोष यह था कि इनका निर्गुण दर्शन भी जन साधारण की समझ में नहीं आया। दलित वर्ग ने इनके खण्डनों को तो सहर्ष स्वीकार कर लिया परन्तु इनका निर्गुण उनसे दूर ही रहा। साथ ही व्यक्तिगत साधना का प्राधान्य होने के कारण इसमें व्यक्ति एवं लोक के कल्याण की भावना रही तो अवश्य परन्तु आदर्शों का अभाव रहा। और आदर्शों के अभाव में कोई भी उपदेश या दर्शन गहरा प्रभाव नहीं डाल सकता। उच्च एवं शिक्षित वर्ग के प्रति तीव्र विरोध की भावना ने सन्त काव्य में सामाजिक अशिष्टता और उच्छृङ्खलता भर दी। कुछ आलोचकों ने इसका यह कारण भी बताया है कि ये लोग इस्लाम से अधिक प्रभावित थे इसीलिए हिंदू जनता पर इनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका। परन्तु पद्धति, भाव, विषय, अलंकार, भाषा, छन्द आदि सभी की दृष्टि से ये पूर्णतः भारतीय सिद्ध होते हैं। संक्षेप में इस मत की स्थायी देन हैं—(१) वैदिक और ब्राह्मण धर्म के प्रति अविश्वास तथा साहित्यिक क्रांति की भावना। (२) आधुनिक रहस्यवाद और छायावाद।

ऐसी विशेषताओं से परिपूर्ण था वह युग जिसके कबीर एक छत्र सम्राट थे।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिए कि कबीर अपने युग के एकमात्र युगदृष्टा, सजग प्रहरी और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा थे।

उत्तर—'भक्तमाल' के प्रणेता नाभादास ने कबीर के सम्बन्ध में लिखा है—CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।
भक्ति विमुख जो धर्म सोई अधरम करि गायो॥
जोग, जग्य, जप, दान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक, प्रमान, रमैनी, सबदी, साखी।
पक्षपात, नहिं बचन, सबहि कै हित की भाषी।
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी॥"

सन्त परम्परा के प्रसिद्ध सन्त गरीबदास ने अपने ग्रन्थ 'परख को अंग' में कबीर के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ कही हैं—

"गरीब सेवक होय कै उतरै इस पृथ्वी के माँहि।
जीव उधारन जगत गुरु बार बार बलि जाँहि॥

तथा

"गरीब कासी उभरी गुल भया मो मन का घर घेर।
कोई कहै ब्रह्म विष्णु है कोई कहै इन्द्र कुबेर॥"

उपर्युक्त उद्धरणों से तत्कालीन समाज में कबीर की दिव्य महिमा का प्रमाण मिल जाता है। अपने युग में कबीर ब्रह्म के अवतार और धर्म के जबरदस्त प्रतिपादक माने जाते थे। आगे चलकर सगुण भक्ति की प्रबल धारा के सम्मुख कबीर का महत्व क्षीण होगया। रीतिकालीन वाहवाही के वातावरण में भी इनकी तरफ विद्वानों का ध्यान नहीं गया। आधुनिक युग में आकर मानवता प्रेमी विद्वानों ने कबीर के महत्व को पहचाना और उनका उचित मूल्याँकन करने का प्रयत्न किया।

अन्य भाषा-भाषियों ने कबीर की जितनी प्रशंसा की है उतनी हिंदी वालों ने नहीं की। कबीर के पदों का रवि बाबू का अनुवाद, भूमिका के रूप में उनकी कबीर के प्रति श्रद्धांजलि, आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा सन्त साहित्य का गम्भीर अध्ययन कर कबीर का महत्व प्रतिपादन तथा विदेशी साहित्य महारथियों द्वारा उनकी प्रशंसा कबीर को विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में बैठाने वाली हैं। इस अनन्य प्रतिभाशाली कवि की हिंदी साहित्य में उपेक्षा ही हुई है। इस उपेक्षा के मूल में रसवादी आलोचकों का संकीर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सीमित दृष्टिकोण प्रधान कारण रहा है। आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि की तीन बातों के कारण उपेक्षा की है—१—उपदेश और धर्म की नीरस चर्चा, उलटवांसियां तथा सुनी सुनाई बातों का पिष्ट पेषण, २—शृङ्खलाबद्ध, सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का अभाव तथा विभिन्न विचारधाराओं का मिश्रण, ३—भाषा और शैली का अव्यवस्थित रूप। उपर्युक्त त्रुटियां रहते हुए भी शुक्लजी को अन्त में यह तो मानना ही पड़ा कि—"प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें सन्देह नहीं।" साहित्य में शक्ति, शील, सौन्दर्य को अपनी आलोचना का मानदण्ड मानकर चलने वाले प्रखर आलोचक शुक्ल जी से हिन्दी साहित्य में अपनी प्रखर प्रतिभा की धाक मनवाने वाले एकमात्र कबीर ही ऐसे है जिनकी शुक्लजी ने विरोध करते हुए भी प्रशंसा की है। यह कबीर की सबसे बड़ी विजय है।

हिन्दी-साहित्य में कबीर का उचित मूल्यांकन न होने का कारण यह भी रहा है कि आलोचक विद्वानों ने अधिकतर उनके तत्वज्ञान की शुष्कता, अपरिमार्जित भाषा और खंडनात्मक दृष्टिकोण पर ही विशेष दृष्टि डाली है। साहित्य की सबसे बड़ी देन जीवन की मूल समस्याओं पर मौलिक रूप से विचार करने की प्रेरणा उत्पन्न करना है। कबीर-साहित्य हमें यही प्रेरणा देता है। कबीर की प्रेरणा सत्य की साधना से है न कि काव्य-सौन्दर्य प्रदर्शन या सामाजिक या और किसी दृष्टि से। सब लोगों को एकता के सूत्र में बांधने से उन्हें संसार की अनेकता में मानवता की एकता का सूत्र मिल गया। जो अपने को भिन्न मानते थे, कबीर ने एकता का सत्य स्वरूप दिखाते हुए, उनका खंडन किया। इस सांसारिक विषमता, आडम्बर और भेदभाव के विरोध में कबीर ने सरल प्रेममय जीवन अपनाने का सन्देश दिया।

हिंदी-साहित्य में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से तुलसी और सूर तथा विषय के महत्व की दृष्टि से तुलसी और कबीर अद्वितीय माने जाते हैं। "तुलसी में अपने आदर्श के कारण जहाँ शक्ति, बल और उत्साह मिलता है वहाँ कबीर में जीवन की प्रधान समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो चिंतन की प्रेरणा मिलती है। इस क्षेत्र में कबीर अद्वितीय हैं। अपनी इसी सार्वजनीन भावना के कारण वे जनता में विशेष लोकप्रियता प्राप्त कर सके। रस-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्राहियों और कला-पिपासुओं ने कबीर का विशेष सम्मान कभी नहीं किया। भ्रातृ भावना और समता की दृष्टि कबीर से पहले इस रूप में और कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती।" रामानुज भक्ति के क्षेत्र में तो समानता के समर्थक थे परन्तु इस क्षेत्र से बाहर वे भी भेदभाव को मानते थे। लेकिन—"हम सब ईश्वर की सन्तान हैं, मनुष्य मात्र समान हैं, जाति और धर्म का कोई भेद नहीं है", इस तरह की घोषणा करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति कबीर थे। इस तरह कबीर मानवता के प्रथम कवि हैं।

कबीर ने कविता क्यों की? यदि इस प्रश्न का उत्तर जान लिया जाय तो हम कबीर की काव्य-शास्त्र संबंधी त्रुटियों को क्षमाकर उनका उचित मूल्यांकन कर सकेंगे। मैथिलकोकिल विद्यापति अपनी भाषा और काव्य के विषय में आत्म-श्लाघा करते हुए कहते हैं—

"बालचन्द बिज्जावइ भासा, दुहु नहिं लागइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई निच्चइ नाअर मन मोहइ॥"

विद्यापति न केवल भाषा के सौन्दर्य को ही महत्व देते थे अपितु वे उसकी सरसता को भी काव्य की प्रशंसा का आवश्यक आधार मानते थे। आगे चलकर उन्होंने पुनः कहा है—

"महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कब्ब कलाउ छइल्ल।"

अर्थात् जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का मूल्य समझता है उसी प्रकार केवल कलाविज्ञ पुरुष ही काव्य का रस ले सकता है परन्तु कबीर का काव्य रचना का उद्देश्य नितान्त भिन्न था। वे अपने पदों के विषय में श्रोताओं को सम्बोधन कर कहते हैं—

"तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥"

उन्होंने अपने काव्य में केवल 'ब्रह्म विचार' को ही प्रकट किया है। अपनी आत्म-साधना का सारा सार भरकर उसे अपने शब्दों द्वारा केवल प्रत्यक्ष कर देने की चेष्टा की है। अपनी बानियों की रचना का उद्देश्य वे किसी 'नाअर' मन को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कब्ब कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते। वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौं कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोइ पकड़े तीर ॥"

इस पद से अपने काव्य द्वारा जनमात्र का कल्याण करने की उनकी तीव्र भावना का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य-रचना को कबीर कोरा 'कविकर्म' समझते है। उपर्युक्त उद्धरणों से कबीर-काव्य के उस आदर्श का पता चल जाता है जिसका अनुसरण अन्य सन्तों ने भी किया था।

कबीर के व्यक्तित्व के दो प्रधान पक्ष हैं। प्रथम धर्म सुधारक उपदेशक का एवं द्वितीय शुद्ध भक्त का। इसी के अनुसार उनके काव्य के भी दो पक्ष हो गए हैं। धर्म सुधारक उपदेशक के रूप में उन्होंने जो कुछ कहा है वह खंडन मंडन की भावना से ओतप्रोत होने के कारण नीरस, शुष्क एवं कर्कश भाषा में है। उसमें साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है। इसका कारण यह है कि शुद्ध कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था। कविता को तो उन्होंने अपने भावों तथा विचारों को जनता तक पहुंचाने का माध्यम बनाया था। उन्होंने न 'मसि कागद' छुआ था और न 'कलम हाथ गही' थी। वे तो केवल ईश्वरीय एवं मानवीय प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ कर पण्डित हो गये थे। कवि के लिये अपेक्षित गुणों—प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास—में से कबीर में केवल प्रतिभा थी। उनके ज्ञान का साधन एवं स्रोत सत्संग और पर्यटन था। वे बहुश्रुत थे। इसी से उनके काव्य में विभिन्न प्रदेशों में प्रयुक्त अनेक कवि समयों, प्रतीकों एवं अलङ्कारों का सौंदर्य आ गया है। उनके रूपक और उलटबांसियों के विरोधाभास साहित्य की अमूल्य निधि माने जाते हैं। उपरोक्त गुण उनके काव्य में अनायास एवं अलक्षित रूप से ही आगए हैं उनके लिए कबीर को विद्यापति और बिहारी की तरह प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। परन्तु ऐसे अंश कबीर साहित्य में बहुत थोड़े से ही हैं।

काव्य की दृष्टि से नीरस होने पर भी कबीर काव्य ने जनता को इतना प्रभावित क्यों किया ? इसका उत्तर स्पष्ट है। सरल हृदय व्यक्ति अपनी बात सरल भाषा में कहता है। सीधी हृदय से निकलने वाली बात सीधी हृदय पर चोट करती है क्योंकि उसमें अनुभूति की तीव्रता होती है। अनुभूति की यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीव्रता कबीर-काव्य की सबसे प्रभावशाली और अमूल्य निधि है। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल। इसीलिए उनकी वाणी में इतनी शक्ति आगई थी। उनकी वाणी की यह शक्ति ही काव्यगत सरसता बनकर पाठकों के हृदय को प्रभावित करती है। परन्तु इस सरसता के दर्शन केवल उन्हीं स्थलों पर होते हैं जहाँ उन्होंने संसार से नाता तोड़ कर भक्ति-भावना में आकंठ निमग्न होकर अपनी विरह व्यथा का वर्णन किया है। यह उनके काव्य का दूसरा पक्ष है। कविता करते समय कबीर को इस बात का ध्यान नहीं रहता था कि जो कुछ वे कह रहे हैं वह सुन्दर और सरस है अथवा नीरस। परन्तु आत्मा के सच्चे उद्गार होने के कारण सरसता उसमें स्वतः ही आ जाती थी।

कबीर का व्यक्तित्व प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी था। उनका यह क्रांतिकारी व्यक्तित्व भक्त, प्रेमी, सुधारक, तथा शुद्ध मानव की विभिन्न धाराओं में प्रवाहित हुआ है। उनके प्रत्येक रूप में सर्वत्र एक प्रखरता, स्पष्टता एवं निश्छलता है। उन्होंने अपने अशिक्षित होने की बात बड़े स्पष्ट और निश्छल शब्दों में कहदी थी परन्तु उन्हें अपने सांसारिक अनुभव और ज्ञान पर पूर्ण आस्था थी। इसी से उन्होंने शिक्षित पण्डितों को ललकार कर कहा था—"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी।" उनकी 'आँखिन की देखी' बात वहाँ तक तो ठीक है जहाँ उन्होंने भगवान के प्रेम में तन्मय होकर अपनी भक्ति-भावना का प्रदर्शन किया है परन्तु जहाँ वे खंडनात्मक प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर दार्शनिक तत्वों का निदर्शन करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ उनकी यह 'आँखिन की देखी' बात लड़खड़ा उठती है, प्रकृति प्रदत्त काव्य शक्ति उनका साथ छोड़ देती है। इसका कारण यह है कि तर्क के लिए शास्त्रीय बुद्धि एवं ज्ञान की अपेक्षा होती है। दार्शनिक विवेचन में मस्तिष्क और शास्त्रीय ज्ञान प्रधान होते हैं। कबीर में मस्तिष्क तो था परन्तु उनका शास्त्रीय ज्ञान न के बराबर था। वह केवल सुना सुनाया था। उसमें गम्भीरता नहीं थी। इसी से वे इस क्षेत्र में आकर लड़खड़ा उठते हैं। उनका वास्तविक एवं स्वाभाविक क्षेत्र, काव्य की दृष्टि से, तो हृदय था। इसी से सरसता केवल वहीं मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वानों ने काव्य के भावपक्ष में बुद्धि, राग और कल्पना तीन तत्व माने हैं। "बुद्धि तत्व से कवि द्वारा उपस्थित किये हुये श्रेष्ठ विचार और सन्देश देखे जाते हैं। कल्पना तत्व में वस्तु की चित्राँकनता और नव-निर्माण देखा जाता है और रागात्मक तत्व में हृदय स्पर्शिता और तन्मयता परखी जाती है।" (बाबू श्यामसुन्दरदास) इस कसौटी पर कसने पर कबीर के काव्य में सन्देश की प्रधानता मिलती है। इसी से उसमें कल्पना तत्व की न्यूनता है। इस न्यूनता के कारण उनके चित्र अस्पष्ट और अधूरे हैं। यह विशेषता केवल कबीर के काव्य में ही नहीं अपितु समस्त सिद्ध-साहित्य एवं सम्पूर्ण सन्त-साहित्य में पाई जाती है। शिक्षा और वास्तविक शास्त्रीय ज्ञान के अभाव के कारण उनमें स्पष्टता नहीं आ पाई है। खंडन-मंडन-प्रधान काव्य में रागात्मकता का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जहां उन्होंने अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्मविभोर होकर अपनी व्यथा और विरह का वर्णन किया है वहाँ रागात्मक तत्व अपनी पूर्ण तन्मयता और हृदय स्पर्शिता के साथ साकार हो उठा है। उनके विरह के पदों में मीरा की सी तन्मयता, सूर की सी सरसता और विद्यापति का सा सौंदर्य है। कबीर के पास भाषा नहीं है। वे दोहा जैसा साधारण सा छंद भी ठीक नहीं लिख सके हैं, रूपक कहीं-कहीं अस्पष्ट और अधूरे हैं, अलंकार भी शुद्ध नहीं हैं फिर भी उनके भक्ति-भावना वाले पद हृदय को स्पर्श कर लेते हैं। इसके मूल में उनकी गम्भीर तन्मयता ही है। निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं :—

"माली आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुन लिए कालि हमारी बार॥

× × ×

नयना अन्तर आव तू पलक ढाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं दूँखू और कूँ ना तोहि देखन देउँ॥

+ + +

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी है गई लाल॥

× × ×

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हौं बलि कब देखौंगी तोहि ।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहि ।।
नैन हमारे तुम्हकौं चाहैं रती न. मानैं हारि ।
विरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु विचारि ।।
सुनहु हमारी दादि गुसाँई, अब जनि करहु अधीर ।
तुम धीरज मैं आतुर स्वामी काचै भाँड़ैं नीर ।।
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बांधै धीर ।
देह छताँ तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में सीधी सरल भाषा में कितनी मार्मिक बात कही गई है । अन्तिम पंक्ति में से यदि कबीर का नाम हटा दिया जाय तो कोई भी काव्य रसिक इसे सूर का पद मान लेगा । क्या ऐसे पदों को नीरस अथवा साहित्यिकता से शून्य कहा जा सकता है ? ऐसे पद हिन्दी साहित्य के रसज्ञ आलोचकों द्वारा कबीर को श्रेष्ठ कवि स्वीकार करवा लेने के लिए पर्याप्त हैं ।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा कबीर काव्य का मूल्यांकन करने का वास्तविक अभिप्राय यह है कि हम यहाँ कबीर की विवेचना एक धर्म-गुरु के रूप में न कर एक साहित्यिक के रूप में कर रहे है । धर्म गुरु के रूप में कोई भी व्यक्ति चाहे कितना ही महान क्यों न हो परन्तु यदि उसका साहित्यिक रूप नगण्य है तो साहित्य की दृष्टि से उसका अधिक मूल्य नहीं रह जाता । इसलिए कबीर को अपने युग का साहित्यिक नेता एवं भावी साहित्य की विचारधारा को प्रभावित करने वाला सिद्ध करने के लिए उसके काव्य में साहित्यिकता को भी परखना पड़ेगा । उपर्युक्त विवेचन द्वारा हमने यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि कबीर पढ़े लिखे नहीं थे परन्तु उनमें काव्य सृजन की प्रखर प्रतिभा थी । यदि तुलसी के समान उनका अध्ययन विस्तृत और गम्भीर होता तो सम्भवतः साहित्यिक के रूप में वे तुलसी के समकक्ष जा बैठते । अस्तु,

कबीर साधक थे । उनकी साधना के भी दो रूप थे—कर्मयोग और हठ योग । कर्मयोगी के समान वे संसार के माया-मोह से निर्लिप्त रहते थे । उनकी कथनी और करनी में साम्य था । परन्तु उन्होंने संसार के संघर्ष से पलायन का उपदेश कभी भी नहीं दिया । वे उससे टक्कर लेने के पक्षपाती थे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी इसी सक्रिय साधना को लक्ष्य कर डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि—"साधना के क्षेत्र में वे युग-युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य स्रष्टा।" सच्चे कर्मयोगी होने के कारण वे युग-युग गुरु थे। उन्होंने सन्त काव्य का पथ-प्रदर्शन कर साहित्यिक क्षेत्र में नव-निर्माण का कार्य किया था। उनके समकालीन एवं परवर्ती सभी संत कवियों ने उनकी वाणी का अनुकरण किया था। हिंदू-मुस्लिम एक्य की जो विचारधारा आज इतनी प्रबल हो उठी है उसके मूल-प्रवर्त्तक कबीर ही थे। इसी धारा को मैथिलीशरण आदि गांधीवादी कवियों ने अपनाया। "इसी प्रकार कबीर न केवल तत्कालीन समाज में, साधना के क्षेत्र में गुरु थे वरन् संतमत, सूफ़ीमत, और हिंदू-मुस्लिम एक्य संबन्धी हिंदी साहित्य के पथ प्रदर्शक और स्रष्टा भी थे।"

कबीर युग-द्रष्टा थे। अपने समय की सम्पूर्ण गति-विधियों पर उनकी नजर रहती थीं। गांधी आधुनिक युग के द्रष्टा थे। युग द्रष्टा शाश्वतकाल से विषमताओं का खंडन कर मानवता का प्रचार करते आए हैं। बुद्ध ने यही किया था, कबीर ने भी यही किया, तुलसी का प्रयत्न भी यही रहा था और गाँधीजी ने भी इसी की पूर्णता के लिये अपना बलिदान कर दिया। कबीर अपने समय की जनता के एकमात्र प्रतिनिधि और पथ-प्रदर्शक थे। वे सत्य को ही परमात्मा मानते थे। इसी से वे अपने को 'सत्यनाम का उपासक' कहते थे। वे मानव-मात्र के प्रेमी थे। भौतिक शक्ति उन पर विजय पाने में असमर्थ रही थी। उनका धर्म था कि—"साईं सेती साँच रहु औरां सूँ सुध भाई।" 'परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणिमात्र के साथ शुद्ध-व्यवहार' धर्म का यही सार है। वे प्रत्येक धर्म के मूल तत्त्वों को सदैव ग्रहण करने के लिये तत्पर रहे थे। सिद्धान्त रूप में तो सब परमात्मा की सर्व व्यापकता को स्वीकार करते हैं परन्तु व्यवहार में इसका उल्टा होता है। परमात्मा की सर्व व्यापकता को स्वीकार कर ही कबीर ने पद-दलित शूद्रों को समानता का अधिकार दिया था। गांधी के हरिजन उद्धार का श्रीगणेश कबीर पहले ही कर चुके थे।

लोक-कल्याण तथा आत्म-कल्याण की दृष्टि से कबीर ने गरीबी को सदैव गले से लगाये रखा था। दैन्य, गरीबी, आध्यात्मिकता जीवन की बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी आवश्यकता है। इसी कारण कबीर स्वयं कपड़ा बुनकर अपनी जीविका चलाते थे। गांधी और कबीर के जीवन में अनेक समानताएँ हैं। इन्हीं को लक्ष्य कर स्वर्गीय बड़थ्वाल ने लिखा था—'भारत अग्र-जन्माओं का देश है जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे हैं। भारत का यह अग्रजन्मत्व पाँच शताब्दी पूर्व कबीर के रूप में प्रकट हुआ था और आज गांधी के रूप में प्रकट हुआ है। परमात्मा की जो विभूति, मानवता का जो महत्व पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर कहलाया, वही आज गांधी है। केवल आवरण का भेद है, तथ्य का नहीं। यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श हैं तो गाँधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या।"

———

प्रश्न ७—तत्कालीन प्रचलित विभिन्न धार्मिक मतों के सम्बन्ध में कबीर के खंडनात्मक दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

उत्तर—कबीर के समय में भारत में अगणित विभिन्न धार्मिक मतों एवं उनके उप-सम्प्रदायों का बोलबाला था। प्रत्येक मत अपने जटिल विधानों एवं परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को लेकर अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पका रहा था। अपने मत के सामने अन्य मतों को हेय एवं पतित समझता था। इससे समाज में दम्भ, पाखण्ड और सामाजिक विश्रृङ्खलता का साम्राज्य छारहा था। कबीर समाज के सजग प्रहरी थे। उनकी गम्भीर और भेदक दृष्टि ने इस विश्रृङ्खलता के मूल में सामाजिक अधोगति एवं पतन का कारण देखा और एक सामान्य सत्य का स्वरूप उपस्थित कर उसे सुधारने का प्रयत्न किया। ऐसा करने में उन्होंने पूर्ण निष्पक्षता से काम लिया। एक सारग्राही के समान उन्होंने प्रत्येक मत एवं सम्प्रदाय की अच्छाइयों की प्रशंसा कर कुरीतियों एवं दम्भ का निर्मम एवं कठोर वाणी द्वारा खण्डन किया। उन्होंने अपने एक पद में उन मत-मतान्तरों का उल्लेख कर यह कहा है कि कोई भी 'हरि' के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाता—

"आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
छह दरसन छयानवै पाखण्ड, आकुल किनहुँ न जाना॥"

तत्कालीन विभिन्न सम्प्रदायों एवं उप-सम्प्रदायों की संख्या कबीर ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छयानवै बतलाई है—

"दस सन्यासी बारह जोगी, चौदह शेख बखान।
अठारह ब्राह्मण, अठारह जंगम, चुविस शेवड़ा जान।"

हो सकता है कि उस समय उपर्युक्त भेद-विभेद रहे हों परन्तु इतिहास मोटे तौर पर इतना तो सिद्ध करता ही है कि उस समय हिंदू धर्म के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदाय एवं उप-सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय, स्मार्त्त धर्म, नाथ पंथ, इस्लाम, सूफी आदि विभिन्न धार्मिक मत-मतान्तर जनता को प्रभावित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

निम्नलिखित पदों से इस बात का पता चलता है कि उस समय हिंदू धर्म के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की उपासना-पद्धतियाँ एवं साधनाएँ प्रचलित थीं जिनमें परस्पर एक दूसरे के प्रति उपेक्षा एवं स्वयं को ही पूर्ण समझने की भावना थी। इन पदों से उनमें से अनेक का परिचय मिल जाता है—

"इक जंगम इक जटाधार, इक अङ्ग विभूति करै अपार।
इक मुनियर इक मन हूँ लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन।
इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव।
इक कुल देव्यां को जपहि जाप, त्रिभुवनपति भूले त्रिविधताप
इक पढ़हिं पाठ इक भुमैं उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास
इक जोगजुगति तन इहिं खीन, ऐसौ रामनामसंग रहैं न लीन
इक हूंहिं दीन इक देहिं दान, इक करैं कपाली सुरा पान।
इक तंत्र-मंत्र ओषध वान, इक सकल सिध राखैं अपान॥
इक तीर्थ व्रत करि काया जीत ऐसै रामनाम से करैं न प्रीति।
इक धोम धोंटि तन हूँहिं स्याम, यूं मुकति नहीं बिन रामनाम
पंडितजन माते पढ़ि पुरान, जोगी माते धरि धियान॥
सन्यासी माते अहंमेव, तपा जु माते तप कै भेव॥
सब मद माते कोऊ न जाग, संग ही चोर घर मुसन लाग॥

कबीर का कहना है कि उपर्युक्त सब उपासक अपनी ही उपासना में मद-माते हो रहे थे। उन्हें धर्म का वास्तविक स्वरूप ज्ञात नहीं था। मुक्ति का एकमात्र साधन केवल राम नाम ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर के मतानुसार सम्पूर्ण हिन्दू पौराणिक सिद्धान्त वेद और स्मृति पर आधारित हैं और ये ग्रंथ भ्रम की उत्पत्ति करने वाले हैं। उन्हें धर्म का सच्चा मार्ग-दर्शक नहीं माना जा सकता। वेद स्मृतादि से समर्थित हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के प्रति कबीर का आक्रोश अत्यन्त उग्र है। वे मनुष्य मात्र को समान मानते हैं। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति समान है। जाति-भेद तो जन्म के उपरान्त समाज एवं धार्मिक व्यवस्था उत्पन्न करती है। यदि विधाता को यह जाति भेद स्वीकार था तो उसने विभिन्न जातियों की जन्म प्रथाओं को भिन्न क्यों नहीं बनाया। वे ब्राह्मणों को सम्बोधित कर कहते हैं कि—

"जो तू बाह्मन बाह्मनि जाया, आन राह है क्यों नहिं आया।"

वास्तविकता तो यह है कि—

"एक जोति ते सब जग उतपना का बामन का सूद्रा।"

यदि विधाता ही यह भेद चाहता तो उसने ब्राह्मणों की उत्पत्ति के समय ही उसे ललाट पर तिलक लगाकर उत्पन्न क्यों नहीं किया जिससे उसे शूद्रों से भिन्न समझ लिया जाता। इसलिए कबीर इस वर्ण व्यवस्था को अस्वाभाविक एवं मनुष्य कृत मानते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय अपने कर्मों को भूल कर प्रमाद में ग्रस्त हैं। इसके अतिरिक्त कबीर ने छूआछूत एवं अपवित्रता को उकसाने वाले शास्त्रीय विधानों की भी कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि यदि जल, स्थल, जन्म, मरण में ही छूत है तो फिर पवित्रता के लिए और स्थान ही कहाँ रह जाता है। इसलिये यह सब ढोंग हैं।

वर्ण-व्यवस्था के समान ही कबीर ने हिन्दुओं के अवतारवाद और मूर्त्ति-पूजा की भी जी खोल कर भर्त्सना की है। उनका कहना है कि यदि कृष्ण नन्द के पुत्र थे तो नन्द सृष्टि के आदि में कहाँ थे। उनके अनुसार ब्रह्म ने न तो दशरथ के यहाँ जन्म लिया था और न नन्द के यहाँ। कबीर का ब्रह्म निरंजन और निराकार है। उसका आदि अन्त भी नहीं है। परन्तु हिन्दू उसकी मूर्त्ति गढ़ते हैं, मन्दिर बनाते हैं, भोग लगाते हैं तथा द्वार पर खड़े होकर उसे पुकारते हैं। एक पद दलित अपवित्र पत्थर को वे ईश्वर का रूप दे देते हैं। इसलिए कबीर कहते हैं कि यदि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पाहन पूजैं हरि मिलैं तो मैं पूजूं पहार।"

इसलिये यह सब व्यर्थ है। इसी प्रकार कबीर तीर्थ, व्रत, उपवासादि का भी खंडन कर उन्हें व्यर्थ समझते हैं क्योंकि इनके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है। कबीर के शब्दों में ब्रह्म का स्वरूप निम्नलिखित है—

"जाकै मुँह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुंप बास थैं पातला ऐसा तत्त अनूप॥

इसलिए ऐसे ब्रह्म की उपासना घट के भीतर ही हो सकती है, उससे बाहर नहीं। ईश्वर सदैव हमारे हृदय में निवास करता है इसलिये उसे खोजने के लिए इधर उधर भटकना अज्ञानता का सूचक है। इसी प्रकार वे मृतक भोज पिंडदान, श्राद्ध क्रिया आदि को भी ढोंग मानते हैं।

कबीर वैष्णवों के कुछ सीमा तक प्रशंसक और शाक्तों के कट्टर विरोधी हैं। शाक्तों को तो वे अत्यन्त नीच एवं जघन्य मानते हैं—

"साषित सुनहाँ दोऊ भाई। वो नीदैं वो भौंकत जाई।

तथा

"साषत ते सूकर भला, सूचाँ राखै गाँव॥"

शाक्तों के प्रति इस तीव्र घृणा के कारण ही वे शाक्तों की छांया तक से बचना चाहते हैं—

"वैश्नों की छपरी भली, न साषत कौ बड़ गाँउ।"

उन्होंने वैष्णवों की भक्ति भावना, विनय शीलता आदि से प्रभावित हो कर उनकी प्रशंसा की है परन्तु साथ ही उन्हें तिलक छापे, बाह्याडम्बर अहंकार आदि का परित्याग कर भगवद् भक्ति करने की सलाह दी है। फिर भी कबीर वैष्णव मत से बहुत प्रभावित दीख पड़ते हैं। उनका सारा क्रोध तो केवल बेचारे शाक्तों पर ही फट पड़ा है क्योंकि कबीर अहिंसा एवं पवित्राचरण के अनन्य उपासक थे। इसलिये उन्हें शाक्तों की हिंसा, मद्य, माँस, नारी में लिप्त रहना अत्यन्त नीचता पूर्ण लगता था।

"पापी पूजा बैसि करि, भाषैं माँस मद दोइ।"

इसलिये कबीर मानव मात्र को सम्बोधित कर कहते हैं कि इनकी संगति कभी मत करना—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कबीर साषत की सभा, तूं मत बैठे जाइ।
एकै बाड़ै क्यूं बड़ै, रोझ गदहड़ा गाई ॥"

इसी प्रकार कबीर अन्य हिंदू मत मतान्तरों के आडम्बरों से भी जनता को दूर रहने के लिये सचेत करते रहते थे।

हिंदू मत-मतान्तरों की तरह ही कबीर ने इस्लाम के बाह्याडम्बरों की भी भर्त्सना की है परन्तु उन पर उतना जोर नहीं दिया है। कारण यह था कि इस्लाम उस समय तक जनता को अधिक प्रभावित नहीं कर सका था। मुसलमानों को उन्होंने प्रायः 'तुर्क' के नाम से संबोधित किया है। मुसलमानों के काजी, शेख, मुल्ला, दरवेश आदि की उन्होंने कटु आलोचना की है। मुल्ला की अजान का मजाक उड़ाते हुये उन्होंने कहा है कि क्या खुदा बहरा है जो मुल्ला मस्जिद के ऊपर चढ़कर उसे पुकारता है। झूठी हज यात्रा और झूठी बन्दगी और पांच बार नमाज पढ़ने तथा साथ ही स्वाद के लिये छुरी लेकर गोहत्या करने में कबीर को कहीं भी संगति नहीं दिखाई देती। "इसी प्रकार वे मुल्ला मौलवी को भी व्यर्थ का रोजा रखने वाला और मीनार पर चढ़ कर 'अजाँ' देने वाला कहते हैं और बतलाते हैं कि ये दोनों ही भ्रम में पड़कर संसार के सांथ चला करते हैं और अपने हाथों में छुरी लेते ही 'दीन' वा धर्म के वास्तविक उद्देश्य को विस्मृत कर देते हैं। इन लोगों की समझ में नहीं आता कि जिस माता का दूध हम दौड़ कर पिया करते हैं उसको बध क्यों करना चाहिये।" (परशुराम चतुर्वेदी) मुसलमानों के धार्मिक विधि विधानों का खंडन करते हुये वे मुसलमानों को समझाते हैं—

"सेख सवेरी बाहिरा क्या हज कावै जाइ।
जाका दिल साबत नहीं, ताकौ कहाँ खुदाइ ॥"

शाक्तों, जैनों और चार्वाकों के समान बौद्धों को भी उन्होंने पाखंडी कहा है। गोरखनाथ के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उन्होंने चौरासी सिद्धों को संशय में पड़ा हुआ बताया है। वे नाथ पंथियों को भ्रम में पड़कर 'डंडा, मुंद्रा, खिंथा' और आधारी के भेष में रहने वाला तथा प्राणायाम करने वाला कहकर उन्हें तत्व-ज्ञान हीन कहते हैं। काया शोधन और इन बाह्य आडम्बरों से परमात्मा नहीं मिल सकता। काया शोधन के स्थान पर आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शोधन करने से ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। शरीर को योगी बनाने से मन योगी नहीं बन सकता। इसी तरह कबीर ने श्रावकों, लुंचितों, दिगम्बरों आदि जैनों के उपभेदों की भी भर्त्सना की है।

कबीर ने अपने समय की परिस्थिति को देखकर समझ लिया था कि मानव-मात्र इन धार्मिकों के चक्कर में पड़कर धर्म के स्वाभाविक रूप को भूल बैठा है। लोक, धर्म और समाज में व्याप्त इस मिथ्याडम्बर का उन्मूलन आवश्यक है। उनकी दृष्टि में जगत में मिथ्याडम्बर फैलाने वाले पण्डित और मुल्ला थे। इसीलिए उन्होंने कहा था कि हम उनमें से किसी को भी नहीं मानते। हमारा मार्ग इनसे नितान्त भिन्न है—

"पण्डित मुल्ला जो लिख दिया,
छांड़ि चले हम कछु न लिया।"

क्यों कि—

"कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोई।
चढ़ मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साँचा होई॥"

तथा

"काजी मुल्लां भ्रमिया चल्या दुनी कै साथि।
दिल थै दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि॥

× × ×

"पण्डित जन माते पढ़ि पुरान, जोगी माते जोग ध्यान।
सन्यासी माते अहं मेव, तपसी माते तप के भेव॥"

इन लोगों के इन्हीं पाखण्डों के कारण—

"जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौराना।
कागद लिखि-लिखि जगत भुलानाँ मन ही मन न समाना

इसलिए इन संपूर्ण पाखण्डों को देखकर ही कबीर ने कहा था कि—

"एक न भूला, दोइ न भूला, भूला सब संसारा।"

ऐसी पाखंडपूर्ण परिस्थितियों में कबीर ने अपने विचार-स्वातन्त्र्य से काम लेकर सब धर्मों के उपयोगी तत्त्वों का संग्रह कर एक सरल और सहज धर्म का पालन करने का उपदेश दिया था। और यह कार्य उन्होंने स्वयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी ही प्रेरणा से नहीं किया था बल्कि इसके लिये—

"मोहि आग्या दई दयाल दयाकरि काहू कू समझाइ।
कहि कबीर मैं कहिकहि हारयौ अब मोहि दोस न लाइ

———

प्रश्न ८—कबीर-मत की संक्षिप्त विवेचना करते हुए उन पर वैष्णव मत का प्रभाव दिखाइये।

उत्तर—हम पहले कह आए हैं कि कबीर सारग्राही महात्मा थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित विविध मत-मतान्तरों से सार वस्तु ग्रहण कर अपना एक नवीन एवं लोककल्याणकारी मत बनाया था। यही कारण है कि उनके मत में अनेक मतों, सम्प्रदायों, ग्रन्थों एवं महात्माओं के विचारों के मूल तत्वों का मिश्रण है। इसके मूल में उनकी परंपरागत भारतीय समन्वयवाद की भावना कार्य कर कर रही थी। इनके मत में विभिन्न देशी-विदेशी, प्राचीन एवं नवीन मतों के इस सम्मिश्रण के कारण विभिन्न आलोचकों ने इन्हें विभिन्न मतावलम्बी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। संक्षेप में, कबीर ने, हिन्दू धर्म से अद्वैत सिद्धान्त, वैष्णव सम्प्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद, मूर्त्तिपूजा आदि, बौद्ध धर्म से शून्यवाद, अहिंसा मध्यम मार्ग आदि, इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव, सूफी सम्प्रदाय से प्रेमभावना तथा नाथ पंथ से हठयोग आदि की साधना लेकर अपने नवीन मानवतावादी मत की स्थापना की थी जो सर्व साधारण के लिये ग्राह्य हो सके। इन्होंने परम्परा से चली आती हुई बातों की युगानुकूल छानबीन कर अच्छी बातों को ग्रहण कर लिया और शेष को अग्राह्य सिद्ध किया। इसी कारण कबीर के ऊपर लिखने वालों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार उनके भिन्न भिन्न रूप माने हैं। इनके समकालीन या परवर्ती सन्तों ने कबीर को सदा एक भक्त के रूप में देखा है। विशेषकर वैष्णव धर्म के प्रति इनकी आस्था एवं 'राम', 'नारायण' 'हरी', 'मुकुन्द', 'गोविन्द' आदि ब्रह्म के विभिन्न नामों के प्रयोग के कारण तथा स्वामी रामानन्द का शिष्य होने के कारण उन लोगों ने इन्हें हिन्दू मतावलम्बी एवं भक्त की संज्ञा दी है। परन्तु साथ ही जब हम देखते हैं कि इन्होंने वैष्णव धर्म के तीर्थ, व्रत, भेष, मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद एवं शास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहित नियमों को त्याज्य ठहराया है तो इन्हें शुद्ध भक्त मान लेने में संकोच होने लगता है। वैष्णव धर्म के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उस समय हम इन्हें शुद्ध भक्त नहीं मान सकते।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त कबीर ने सगुण ब्रह्म के स्थान पर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की है। इसलिए कुछ लोग इन्हें महाराष्ट्रीय 'बारकरी सम्प्रदाय' के सन्त ज्ञानदेव, नामदेव आदि की परम्परा में मानते हैं। अपने इष्टदेव के लिए 'अगम', 'अगोचर', 'अकथ' आदि शब्दों का प्रयोग करने के के कारण कुछ लोग इन्हें वेदान्ती भी कहते हैं और इनकी रचनाओं के वेदान्तपरक अर्थ करते हैं। इसी प्रकार इनकी निर्गुण के प्रति आस्था तथा उसकी प्राप्ति के लिए योग साधना की चर्चा करने के कारण कुछ लोग इन्हें पूर्ण योगी मानते हैं। इनकी खंडनात्मक उक्तियों को देखकर कुछ लोगों ने यह मत स्थिर किया है कि वे एक सच्चे धर्म सुधारक मात्र थे। कुछ लोक उनकी रचनाओं में 'शून्य', 'मधि', 'निरंजन' जैसे शब्दों को देखकर उन्हें बौद्ध मत से अधिक प्रभावित समझ कर तथा कुंडलिनी जैसी योग साधनाओं की बहुलता देखकर उनका सम्बन्ध नाथ पंथियों से जोड़ देते हैं। उपर्युक्त सारे मत उनको हिन्दू धर्मावलम्बी मानने वालों के हैं।

परन्तु कुछ लोग उनके माता-पिता को मुस्लिम धर्मावलम्बी जुलाहा मान कर तथा उनकी रचनाओं में इस्लामी सिद्धान्तों का प्रभाव मानकर उन्हें मुसलमान सिद्ध करने के प्रयत्न में हैं। उनके द्वारा ईश्वर के लिए 'कर्त्ता' शब्द का प्रयोग करना, एक 'जोति' से ही सारी सृष्टि की उत्पत्ति मानना, 'गोर', 'अम्बर', 'चौदह चन्दा' आदि शब्दों के व्यवहार आदि को वे अपने मत के समर्थन में उपस्थित करते हैं। गुलाम सरवर ने तो इन्हें स्पष्ट रूप से शेख तकी का शिष्य घोषित कर दिया है तथा कर्नल मालकन इन्हें सूफियों का अनुयायी मानते हैं। मगहर-स्थित इनकी समाधि को देखकर कुछ कबीर पंथी भी इन्हें मुस्लिम पीर मानते हैं।

परन्तु वास्तविकता यह है कि उपर्युक्त सम्पूर्ण मत भ्रमात्मक हैं। हम पहले ही कह आए हैं कि कबीर सारग्राही थे। उन्होंने प्रत्येक स्थान से सार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ग्रहण कर अपना एक नवीन मत स्थापित किया था। वे किसी सम्प्रदाय विशेष के सिद्धान्तों को लेकर नहीं चले हैं। उन्होंने प्रत्येक धर्म की रूढ़ियों और पाखंडों की खुलकर आलोचना की है। वे कथनी और करनी के बीच साम्य देखना चाहते हैं। वे एकाएक ही वेद और कुरान को झूठा नहीं ठहराते। झूठा वे उन लोगों को ठहराते हैं जो इन धर्मग्रन्थों की मनमानी व्याख्या कर मनुष्य मनुष्य में भेद उत्पन्न करते हैं—

"वेद कतेब कहो क्यूं झूठा, झूठा जो न विचारै।"

कबीर ने स्पष्ट शब्दों में अपने को "ना हिन्दू ना मुसलमान" बताया है। इसलिए उन्होंने सब जगह से विचारों को लेकर तथा उन्हें अपने विचार की कसौटी पर कसकर संसार को यह बताया है कि सारे मत मतान्तर सत्य के वास्तविक स्वरूप से दूर जा पड़े हैं। इसलिए उन पर विचार कर, यदि वे ठीक लगें, तो उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा करने में किसी के अन्धानुकरण की आवश्यकता नहीं। क्योंकि कबीर की दृष्टि में ज्ञानी वही है जो—

"कथत बकता सुरता सोई। आप विचारै सो ग्यानी होई॥" अस्तु,

इस प्रश्न में अब हमें कबीर पर वैष्णव मत के प्रभाव को देखना है।

विभिन्न हिन्दू मत-मतान्तरों में से कबीर ने केवल वैष्णवों की ही भूरि भूरि प्रशंसा की है। इसका कारण यह था कि वे वैष्णवों की विनयशीलता, उनकी धार्मिक उदारता एवं सिद्धान्तों को अच्छा समझते थे। कबीर पर वैष्णव-प्रभाव को देखने के लिए पहले संक्षेप में वैष्णव मत को समझ लेना आवश्यक है। वैष्णव मत में भगवान विष्णु और उनके विभिन्न अवतारों की उपासना प्रधान मानी गई है। डा० भंडारकर के अनुसार प्रारम्भ में यह एकान्तिक धर्म के नाम से प्रसिद्ध था और श्री भगवद्गीता इसका आधार ग्रन्थ था। बाद में यह पांचरात्र या भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर इस पर योग और सांख्य का भी प्रभाव पड़ा। बौद्धों ने इसके प्रभाव को कम करने का बहुत प्रयत्न किया और अपने इस प्रयत्न में कुछ सीमा तक वे सफल भी हुए। परन्तु छठवीं, सातवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण भारत के आलवार भक्तों ने पुनः इसका पुनरुत्थान किया। शंकर, रामानुज, मध्व, विष्णु, निम्बार्क और बल्लभाचार्य आदि ने क्रमशः इसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न शाखाओं को पल्लवित किया। रामानुजाचार्य ने इसमें भक्तितत्व का समावेश कर उसे चरम विकास दिया। वैष्णव धर्म के प्रमुख आधार ग्रन्थों में महाभारत का नारायणीयोपाख्यान, गीता, भागवत, नारद भक्ति सूत्र, विष्णु पुराण, पाञ्चसंहिता, लक्ष्मी तंत्र आदि का नाम लिया जाता है। डा० त्रिगुणायत ने उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर इस मत के निम्नलिखित सामान्य तत्व निर्धारित किए हैं—

(१) विष्णु के विविध नामों का प्रयोग।

(२) उपास्य के रूप में विष्णु के ही निर्गुण या अवतारी सगुण स्वरूपों की प्रतिष्ठा।

(३) भक्ति और उपासना तत्व।

(४) योगतत्व (इसके अन्तर्गत सदाचारों का भी समावेश हो जाता है।)

(५) तात्विक दृष्टि से माया का विरोध और व्यावहारिक दृष्टि से उसकी मान्यता।

(६) प्रवृत्यात्मकता।

(७) वर्ण व्यवस्था का विरोध।

कबीर साहित्य में जब हम वैष्णव प्रभाव को देखते हैं तो सबसे पहली शंका यह उठती है कि वैष्णव मत तो साकारोपासना में आस्था रखता है और कबीर ने निराकारोपासना को ही माना है। फिर कबीर इससे प्रभावित कैसे हो सकते हैं? परन्तु ऐसी शंका उन्हीं लोगों के मन में उठा करती है जो वैष्णव मत से पूरी तरह परिचित नहीं होते। उनका तर्क यह होता है कि वैष्णव मत भक्तिप्रधान है और भक्ति का आलम्बन निर्गुण ब्रह्म नहीं हो सकता। परन्तु वास्तविकता यह है कि वैष्णव मत के सम्पूर्ण ग्रन्थों में ब्रह्म के निराकार एवं साकार दोनों ही स्वरूपों का महत्व प्रतिपादित किया गया है। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म से क्रमशः सगुण ब्रह्म का विकास हुआ है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि तुलसी और सूर जैसे वैष्णव भक्त भी ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को ही मूल मानते हैं यद्यपि वर्णन उन्होंने सगुण का ही किया है। सूर ने तो स्पष्ट कहा है कि निर्गुण ब्रह्म—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सब विधि अगम अगोचर, ताते सूर सगुण लीला पद गावै।"

कबीर ने निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना की है। उनके राम दाशरथि राम न होकर निर्गुण और निराकार राम है। भगवान के पुरुषावतार को वे स्वीकार नहीं कर सके हैं। वे उसे भगवान का निर्गुण रूप मानते हैं। कबीर ने अनेक स्थलों पर अपने ब्रह्म का जो वर्णन किया है वह गीता और ऋग्वेद आदि के वर्णन से बहुत कुछ मिलता है, जैसे—

"कोटि सूर जाके परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उच्चरै॥"

भक्ति-तत्व वैष्णव मत का एक प्रकार से प्राण है। सभी वैष्णव भक्ति की महिमा को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। नारद भक्ति सूत्र में भक्ति को ज्ञान, कर्म, योग आदि से श्रेष्ठ माना गया है। भक्ति के सम्मुख भक्त मुक्ति की भी आकांक्षा नहीं करता क्योंकि मुक्ति तो भक्ति की चेरी मात्र है अतः उसका महत्व ही क्या हो सकता है। इस भक्ति में भगवान के प्रति अनन्य प्रेम की ही प्रधानता है। कबीर ने पूर्णतः भक्ति के इसी वैष्णवी स्वरूप को अपना पथ प्रदर्शक माना है। भक्ति के क्षेत्र में वे नारद को आदर्श मानते हैं। उन्होंने कहा भी है—"भगति नारदी मगन कबीरा।" वैष्णव मत में भक्ति की प्रतिद्वन्द्विता में माया की कोई स्थिति नहीं मानी गई थी। सम्भवतः बाद में शंकर स्वामी के अद्वैतवाद द्वारा इस भक्ति में माया का अस्तित्व मान लिया गया हो। संघर्ष होने पर साधक की लगन और शक्ति बढ़ जाती है। इसीलिए भक्ति की पूर्ण प्राप्ति में माया को बाधक मानकर भक्त उससे बचने या उसे पूर्णतः नष्ट कर देने का प्रयत्न करता है। कबीर ने भी भक्ति के साथ माया को प्रमुखता देकर उसका विभिन्न रूपों में वर्णन किया है। इस तरह इस माया की प्रतिद्वन्द्विता में उन्होंने भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर मनुष्यों को माया के मोहपाश से छूटने की सलाह दी है। यह शुद्ध रूप से वैष्णव मत का प्रभाव है।

वैष्णव मत अपने प्रारम्भिक रूप में एकान्तिक एवं निवृत्यात्मक था। परन्तु जब से इसमें राम और कृष्ण के लोक रक्षक एवं लोकरंजक रूपों की प्रतिष्ठा कर, मानव मात्र का कल्याण उनका उद्देश्य घोषित कर दिया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब से इसका रूप प्रवृत्यात्मक होगया। भक्तों का प्रधान कर्त्तव्य लोक संग्रह माना गया। तुलसी ने इसी कारण 'मानस' की रचना की। कबीर ने भी भक्ति को केवल आत्म-कल्याण के निमित्त ही नहीं अपनाया था। वे इसके द्वारा भ्रम में पड़े हुए मानव का उद्धार करना चाहते थे। और उन्होंने ऐसा अपनी प्रेरणा से ही नहीं किया था बल्कि इसके लिए उन्हें "दयाल" ने आज्ञा दी थी—

"मोहि अग्या दई दयाल, दया कर काहू को समझाय।"

कहा जाता है कि कबीर विरागी थे। परन्तु उनका विराग सन्यासियों का सा विराग नहीं था। वे सद्गृहस्थ थे। अपनी जीविका स्वयं उपार्जित करते थे परन्तु गृहस्थी में ही पूर्ण रूप से लिप्त होकर नहीं रहे थे। वे ज्ञान के उपासक थे। ज्ञान प्राप्त होना चाहिए चाहे घर में रह कर या वैराग्य द्वारा—

"कबीर जाग्या ही चाहिए।
क्या गृह क्या वैराग॥"

इसी कारण कबीर का भक्ति मार्ग निवृत्यात्मकता न होकर प्रवृत्यात्मक है। डा० त्रिगुणायत ने कबीर में निवृत्यात्मकता और प्रवृत्यात्मकता का सुन्दर सामंजस्य माना है क्योंकि कबीर सहज मार्गी थे।

वैसे तो वर्ण व्यवस्था वैष्णव धर्म की प्राण रही थी परन्तु उत्तर मध्यकाल में आकर रामानुज ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया था। रामानुज भक्ति के क्षेत्र में तो वर्ण व्यवस्था में ढील देना स्वीकार करते थे परन्तु सामाजिक क्षेत्र में वे उसके समर्थक थे। रामानन्द ने वर्ण-व्यवस्था का उन्मूलन कर धर्म का द्वार मानव मात्र के लिए उन्मुक्त कर दिया। कबीर रामानन्द के शिष्य थे अतः उन्होंने वर्ण व्यवस्था का खंडन कर निम्न वर्णों के मन में आत्मगौरव एवं आत्म सम्मान की भावना भरी।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा डा० त्रिगुणायत अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—"इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर में वैष्णव मत के सारभूत तत्व सभी विद्यमान हैं। अतः यह कहना कि उनमें वैष्णवों के केवल प्रपत्ति और अहिंसा तत्व ही मिलते हैं, अधिक उपयुक्त नहीं है। इससे भी कहीं अयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भी कहना है कि कबीर के राम रामानन्द के राम से भिन्न हैं। अतः कबीर को वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं ले सकते। हम ऊपर दिखला चुके हैं कि कबीर के उपास्य की रूपरेखा वैष्णव मत के विरुद्ध नहीं हैं। निर्गुण राम का उपासक होने के कारण उन्हें वैष्णव न मानना उस महात्मा के साथ अन्याय करना है। वास्तव में वे स्वभाव और विचार दोनों से वैष्णव थे।"

डा० त्रिगुणायत के उपर्युक्त कथन के अनुसार तो कबीर को वैष्णव मान लेना चाहिए परन्तु जब हम कबीर में सूफी, नाथ एवं इस्लाम के ऐसे तत्वों की मान्यता देखते हैं जो पूर्ण रूप से वैष्णव मत के विरोध में हैं तब उन्हें वैष्णव कैसे माना जाय। वैष्णव मत के ही पूजा, तीर्थ, व्रत, अवतार आदि की अवहेलना भी उन्हें शुद्ध वैष्णव मानने से रोकती है। इसलिए केवल इतना कहना ही अलं है कि कबीर अन्य मतों के समान वैष्णव मत से भी प्रभावित थे और उनकी भक्ति भावना का स्वरूप विशेष रूप से वैष्णवी भक्ति के ही समान था।

प्रश्न ९—कबीर पर नाथ पंथियों के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन से पूर्व सबसे शक्तिशाली एवं प्रभावशाली सम्प्रदाय नाथ पंथ था। वैसे तो इसके आदि प्रवर्त्तक प्रथम आदिनाथ माने जाते हैं जो स्वयं शिव हैं। परन्तु मध्यकाल में आकर गुरु गोरखनाथ ने इसका पुनरुद्धार कर इसका पुनः प्रचार किया। नाथ पंथियों में सबसे प्रभावशाली व्यक्तित्व गोरखनाथ का ही रहा है। कहा जाता है कि नाथ सम्प्रदाय के बारह पंथों में से छः के प्रवर्त्तक स्वयं आदिनाथ हैं और बाकी छः के गोरखनाथ। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों को साधारणतः कनफटा जोगी या दार्शनिक साधु कहा जाता है।

नाथ सम्प्रदाय को प्राचीन ग्रंथों में कई नामों से पुकारा गया है जैसे सिद्धमत, योगमार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूत सम्प्रदाय, अवधूत मत आदि। राहुल आदि नाथ पंथ को सहजयानी और बज्रयानी जैसे परवर्ती बौद्धों का ही परिमार्जित एवं परिवर्तित रूप मानते हैं। राहुल गोरखनाथ को बज्रयान का ही आचार्य मानते हैं। नाथों से पूर्व सिद्धों की मद्य, मांस, मैथुनादि से सम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्वित साधना पद्धति प्रचलित थी जिसमें सदाचरण का कोई महत्व नहीं था। कृत्या, त्रिपुर सुन्दरी आदि की भोग प्रधान उपासना पद्धति में लिप्त कौल, कापालिक आदि सम्प्रदाय जनता को पथ भ्रष्ट कर रहे थे। गोरखनाथ ने सिद्धों की इसी आचार हीन उपासना पद्धति का विरोध करने के लिए सदाचार प्रधान इस नए नाथपंथ की स्थापना की थी जिसमें योग क्रियाओं द्वारा शरीर की शुद्धि एवं सदाचरण को प्रधानता देकर मद्य, माँस, मैथुनादि का निषेध किया गया था। नाथपंथ में 'नाथ' शब्द का अर्थ मुक्ति देने वाला तथा अनादि धर्म का वाचक और तीनों लोकों की स्थिति का कारण मानते है।

नाथ पंथ की साधना पद्धति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे बौद्धों और शाक्तों की परम्परा में मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा इसे शैव मत का अनुयायी तथा डा० मोहनसिंह इसे उपनिषदों से प्रभावित सिद्ध करते हैं। जो कुछ भी हो परन्तु इतना निर्विवाद है कि कबीर से पूर्व नाथपंथ समस्त उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रभावशाली मत था। साथ ही यह मत सुधारवादी भी था। इसलिए कबीर का इससे प्रभावित होना अवश्यम्भावी है। कबीर साहित्य में स्थान-स्थान पर नाथमत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह प्रभाव विशेष रूप से दार्शनिक सिद्धान्त, साधना पद्धति, भाषा और अभिव्यक्ति का प्रकार, पुस्तकी ज्ञान का खंडन, वेदादि की उपेक्षा, योगियों या अवधूतों के स्वरूप वर्णन आदि में विशेष रूप से लक्षित होता है। हठयोग की साधना का वर्णन उसी शब्दावली के साथ कबीर काव्य में यत्रतत्र बिखरा पड़ा है।

दार्शनिक सिद्धान्त—नाथ पंथियों को अवधूत भी कहा जाता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अवधूत के लक्षण देते हुए लिखा है कि—"एकमात्र अवधूत ही गुरु पद का अधिकारी हो सकता है। वह अवधूत जिसके वाक्य-वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टि में कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे हाथ में भोग और फिर भी जो त्याग और भोग दोनों से अलिप्त है।" ऐसे योगीश्वर को ही नाथ-पद की प्राप्ति होती है।

अवधूत का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है परन्तु वह द्वैत अद्वैत के द्वन्द से परे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रह कर द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व में आस्था रखता है। ब्रह्म द्वैत और अद्वैत से परे हैं। गोरखनाथ ने इस परम तत्व का वर्णन इस प्रकार किया है—

"बसति न सून्यं न बसित अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर में बालक बोले ताका नाउ धरउगे कैसा॥"

कबीर ने भी इसी से मिलता जुलता ब्रह्म का वर्णन किया है—

"गोरख-राम एकौ नहिं उहवां ना वहँ वेद विचारा।
हरिहर ब्रह्मा ना सिव-सक्ती ना वहँ तिरथ-अचारा॥
माय-बाप-गुरु जाके नाहीं सो धौं दूजा कि अकेला।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझै सोई गुरु हम चेला॥"

ऐसा ब्रह्म संख्या से परे हैं। यही कबीर का द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्व-वाद है। उनका ब्रह्म द्वैताद्वैत के द्वन्द्व से परे हैं, विलक्षण है।

नाथपंथी अपने को दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनों से भिन्न मानते हैं। ये वेद के दो रूप मानते हैं सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल वेद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि ये प्राणी को कर्मकांड में लिप्त कर देते हैं। उनका वेद तो 'ओंकार' स्वरूप है। कबीर ने भी वेदों के यही दो रूप मानकर 'ओंकार' शब्द की महिमा गाई है और साथ ही इस 'ओंकार' को दुष्प्राप्य बताया है—

"वो ओंकार आदि जो जानै। लिखि कै मेटै ताहि सो माने।
वो ओंकार कहैं सब कोई। जिन्हि यह लखा सो विरला होई॥"

यहाँ कबीर ने 'ओंकार' की महत्ता को स्वीकार तो कर लिया है परन्तु उन नाथपंथियों की खिल्ली उड़ाई है जो केवल इस शब्द का उच्चारण मात्र किया करते हैं परन्तु उसके वास्तविक तत्व को नहीं समझते।

नाथ पंथी बिन्दु और नाद में से 'नाद' को नाथांश या ईश्वर का अंश और 'विन्दु' को शरीरांश मानते हैं। इनके योग से ही सृष्टि होती है ऐसी इनकी धारणा है। कबीर का मत भी यही है—

"अव्यक्त नादै विन्दु गगन गाजै, सब्द अनहद बोलै।
अन्तर गति नहिं देखै नैड़ा, ढूँढ़त बन बन डोलै॥"

नाथ पंथियों के अनुसार नाथ-स्वरूप में लय हो जाना ही मुक्ति है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर भी मुक्ति का लक्षण यही देते हैं—

"कह्या न उपजै उपज्याँ नहीं जांणों भाव अभाव बिहूनां ।
उदय अस्त जहाँ मत बुद्धि नाहीं सहजि रामल्यौं लीनां ॥"

कबीर के अनुसार 'नाद' के स्थान पर 'राम' में लीन हो जाना ही मुक्ति है । माया की चर्चा नाथ पंथियों में भी काफी पाई जाती है । गोरखनाथ के अनुसार माया के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या । कबीर ने भी अपनी एक साखी में माया के यही दो भेद माने हैं तथा एक अन्य स्थान पर माया के 'मोटी' और 'झीनी' दो भेद किए हैं । कबीर का माया-वर्णन पूर्ण रूप से नाथ पंथियों से न मिल कर धर्म और स्वभाव से सांख्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलता-जुलता हुआ है । अतः माया के वर्णन में कबीर पर नाथपंथियों का पूर्ण प्रभाव नहीं माना जा सकता ।

पुस्तकी ज्ञान की उपेक्षा—पुस्तकी ज्ञान की खिल्ली उड़ाने की परम्परा बहुत पुरानी है । 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' में इस पुस्तकी-विद्या या ग्रन्थ द्वारा अर्जित ज्ञान का बड़ा मजाक उड़ाया गया है । उसके अनुसार एकबार दुर्वासा मुनि सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत होकर महादेव की सभा में गए । वहाँ उनके अध्यात्म ज्ञान के अभाव को देखकर नारद ने उन्हें 'भारवाही गर्दभ' कहकर हँसी उड़ाई । इस पर दुर्वासा ने सम्पूर्ण शास्त्रों को समुद्र में फेंककर महादेव से अध्यात्मज्ञान की भिक्षा माँगी । उपर्युक्त ग्रन्थ में अध्ययन द्वारा अर्जित ज्ञान की स्थान-स्थान पर ऐसी ही खिल्ली उड़ाई गई है । कबीर के अनेक पदों से ही यही ध्वनि निकलती है । दो पद द्रष्टव्य हैं—

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥"

तथा

"तू राम न जपहि अभागी ।
वेद पुरांन पढ़त अस पांडे खरचन्दन जैसे भारा ।
राम-नाम-तत समझत नाहीं अन्ति पड़ै मुख छारा

साधना-पद्धति—नाथ पंथियों के अनुसार "सदाचार में स्थित गगन मण्डल में औंधे मुँह का अमृत-कुण्ड है । यही चन्द्रतत्व भी कहलाता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें से निरन्तर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपयोग कर लेता है वह अजरामर हो जाता है। उसका पान मुक्त योगी ही, जिसने श्रेष्ठ गुरु प्राप्त कर लिया है, कर सकता है।" (डा० त्रिगुणायत)

"गगन मण्डल में औंधा कुँआँ तहँ अमृत का वासा।
सगुरा होय से झरझर पिया निगुरा जाहि पियासा॥"

इस अमृत का पान करने के लिए पहले नैतिक आचरणों की दृढ़ता एवं गुरु कृपा से अवैराग्य की भावना लानी पड़ती है। इसके उपरान्त इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना एवं मन-साधना द्वारा साधक को इस अमृत की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय निग्रह द्वारा नारी से दूर रहना पड़ता है। प्राण साधना में प्राणायाम द्वारा प्राण पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। मन-साधना में मन को माया के मोह से मुक्त कर अन्तर्मुखी बनाना पड़ता है। इन तीनों साधनाओं के उपरान्त साधक की साधना कुँडलिनी जागरण और नाड़ी साधना के रूप में आगे बढ़ती है। इसी में 'षटचक्र-भेदन' की क्रिया आती है और अन्त में 'शब्द सुरति योग' की अवस्था आती है जिसमें 'अनहद नाद' सुनाई पड़ता है। यही इस साधना की अन्तिम अवस्था अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है। इस नाथपंथी साधना पद्धति की कबीर ने अनेक बार चर्चा की है। वे नाथ-पंथ की इस त्रिविध साधना से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने वैराग्य भावना, मन की शुद्धता, वेद तथा बाह्याचारों का विरोध आदि सभी का उल्लेख किया है। प्राणायाम की साधना, इन्द्रिय निग्रह के लिए नारी को माया बताना तथा अपने सहजयोग द्वारा मन की साधना आदि का उन्होंने अनेक स्थानों पर वर्णन किया है।

नाथपंथियों की उपर्युक्त त्रिविध साधना-पद्धति ही हठयोग कहलाती है। हठयोग की विस्तृत साधना पद्धति का डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक ग्रन्थ में विषद् विवेचन किया। इसमें शरीर में स्थित विभिन्न चक्रों की साधना के उपरान्त ही मुक्ति का विधान है। साधक नाना प्रकार की साधनाओं द्वारा कुंडलिनी शक्ति को, जो अधोमुखी रहती है, जाग्रत कर ऊर्ध्वमुखी करता है। कुंडलिनी के जाग्रत हो जाने पर साधक विभिन्न प्रकार के शब्दों को सुनता है जो 'नाद' कहलाता है। परन्तु ज्यों-ज्यों मन विशुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता जाता है त्यों-त्यों इन शब्दों का सुनाई देना बन्द होता जाता है। यह शब्द मूलाधार से उठता है और सहस्रार में जाकर लय हो जाता है। अन्त में योगी को खेचरी मुद्रा की प्राप्ति होती है। परन्तु यह मुद्रा बहुत थोड़े समय तक ही रहती है। इसमें योगी अपनी जिह्वा को उलट कर कपाल-कुहर में ले जाता है और वहाँ चन्द्रमा से बहने वाले अमृत का पान कर अमर हो जाता है। कबीर ने योगी और अवधू को इसी अमृत का पान करने को ललकारा था—

"अबधू गगन मण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै' बंकनालि रस पीजै।
मूल बाँधि सर-गगन-समाना सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहाँ जोगणी जागी॥
मनवा जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद जागा॥"

इस प्रकार आत्मा को शून्य में करके और शून्य को आत्मा में लय करके साधक समाधि में लीन हो जाता है। उस समय उसके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है—आसमान में जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो! परन्तु वह असल में भीतर से भी पूर्ण होता है, बाहर से भी पूर्ण होता है—समुद्र में जैसे भरा घड़ा रखा गया हो। (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी) कबीर ने इसी तथ्य को निम्नलिखित पद में चित्रित किया है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूट कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कहो गियानी॥
आगे गगना अन्ते गगना, मध्ये गगना भाई।
कहै कबीर करम किस लागै, झूठी एक उपाई॥"

उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा कबीर पर नाथपंथियों के हठयोग का प्रभाव प्रमाणित हो जाता है।

नाथपंथी साहित्य में ब्रह्म के लिए प्रायः 'निरंजन' शब्द का प्रयोग हुआ है। साधारण रूप में 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्म का और विशेष रूप में शिव का वाचक है। कुछ लोगो का कहना है कि 'निरंजन मत' नाथ-पंथ का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही एक उप-सम्प्रदाय था और कुछ का मत है कि इस निरंजनी सम्प्रदाय की परम्परा कबीर से पहले से चली आ रही थी। वास्तविकता जो कुछ भी हो परन्तु यह प्रमाणित हो चुका है कि कबीर और इस निरंजनी सम्प्रदाय की विचारधारा में बहुत कुछ साम्य है। डा० बड़थ्वाल का कहना है कि निरंजनियों का मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योगमार्ग के ही समान है। निरंजनियों की साधना हठयोगियों जैसी है। इनमें प्रेम और विरह को अधिक महत्व दिया गया है और कबीर में भी हमें यही प्रवृत्ति मिलती है। निरंजन को पाने के लिए शून्य का ध्यान आवश्यक है जो हठयोग ही है। परन्तु कबीर ने परम्परा से वर्णित 'निरंजन' के स्वरूप को स्वीकार न कर उसे महा ठग माना है। उन्होंने निरंजन के धोके से बचने के लिए कहा है—

"अबधू निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग-पताल जीव मृत मण्डल तीन लोक विस्तारा।
ब्रह्मा विष्णु सिव प्रकट कियो है ताहि दियो सिर भारा
ठाँव ठाँव तीरथ व्रत थाप्यौ ठगने को संसारा।
माया मोह कठिन बिस्तारा आपु भयौ करतारा ॥
सतगुरु शब्द को चीन्हत नाहीं कैसो होय उबारा।
जारि भूँजि कोइला करि डारै फिरि फिरि लै अवतारा
अमरलोक जहाँ पुरुष विराजै तिनका मूँदा द्वारा।
जिन साहब से भए निरंजन सो तो पुरुष है न्यारा ॥
कठिन काल ते बाँचा चाहो गहो शब्द टकसारा।
कहैं कबीर अमर कर राखौ मानों शब्द हमारा ॥"

कबीर निरंजन के उपर्युक्त पद में वर्णित रूप को 'महा ठग' का रूप समझते हैं।

नाथ पंथी योगी का स्वरूप—कबीर द्वारा वर्णित योगियों या अवधूतों के स्वरूप का वर्णन नाथपंथी योगियों के स्वरूप से पूर्णतः मिलता है। योगी कानों में कुण्डल, किंगरी, मेखला, सींगी, जनेब, घंघारी, रुद्राक्ष, अधारी, गूदरी, खप्पर और झोला धारण किये रहते हैं। शरीर में भस्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाते हैं और बाहुमूल या त्रिपुंड लगाया करते हैं। कबीर ने योगियों के इन सभी उपकरणों का विवरण दिया है परन्तु वे सच्चे योगी के लिए इन बाह्याडम्बरों की आवश्यकता न समझ कर इन चिह्नों को मन में, मानसिक पूजा के लिए, धारण करने के लिए कहते हैं—

"सो जोगी जाके मन में मुद्रा ;
रात दिवस न करई निद्रा।
मन में आसण मन में रहना मन का जप तप मनसू कहना।
मन में खपरा मन में सींगी अनहद नाद बजावै रंगी ॥
पंच परजारि भसम करि भूका कहै कबीर सो लहसै लूका ॥"

नाथ पंथियों की भाषा और अभिव्यक्ति—गोरखनाथ और कबीर दोनों ने ही जन साधारण में अपने मत का प्रचार करने के लिए जन साधारण की भाषा को अपनाया था।। इसी कारण इन दोनों की भाषा में बहुत साम्य है। कबीर गोरखनाथ से बहुत अधिक प्रभावित थे। कहीं-कहीं तो दोनों के ही नाम से प्रचलित पदों में एक मात्रा का भी अन्तर नहीं मिलता। डा० त्रिगुणायत ने निम्नलिखित पद उद्धृत किया है—

"यह मन सकती यह मन सीव।
यह मन पाँच तत्वों का जीव ॥
यह मन जै उनमन रहै।
तो तीन लोक की बाता कहै ॥"

इसके अतिरिक्त अनेक पारिभाषिक एवं साम्प्रदायिक शब्दों जैसे 'सुरति-निरति', 'जिन्द' तथा 'उलटि पवन षट चक्र वेधिया' आदि वाक्य कबीर ने हूबहू गोरखनाथ से लिए हैं। गोरखनाथ के पदों में व्याप्त रहस्य भावना का भी कबीर पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कबीर साहित्य में संगीत के समावेश को भी नाथ पंथियों का प्रभाव माना है। नाथ पंथी अपने मत का प्रचार करने के लिए छोटे-छोटे पदों में संगीत मय काव्य की रचना किया करते थे जिससे उनका प्रचार सहज ही हो सके। कबीर ने भी इसी प्रणाली को अपनाया था इसीलिए उनके काव्य में संगीत का समावेश हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न १०—कबीर मत पर इस्लाम एवं सूफी मत का प्रभाव स्पष्ट कीजिए

उत्तर—जिन विद्वानों का यह मत है कि कबीर मुसलमान थे तथा उनका लालन-पालन मुस्लिम परिवार में हुआ था, वे यह भी सिद्ध करते हैं कि कबीर इस्लाम और उसी के एक उदार पंथ सूफी-सम्प्रदाय से बहुत प्रभावित थे। हम पिछले प्रश्नों में यह सिद्ध कर चुके हैं कि कबीर पर वैष्णवों और नाथ पंथियों का बहुत गहरा प्रभाव था। एक प्रकार से उनकी विचारधारा एवं साधना पद्धति इन्हीं दोनों पर आधारित थी। कबीर तो 'हिन्दू' और 'मुसलमान' शब्दों के संकीर्ण दायरे से बहुत ऊपर और सारग्राही थे। उनके समय में भारत में इस्लाम का प्रभाव पड़ने लगा था। कबीर को अपनी बातें हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही सुनानी पड़ती थीं। इसलिए यदि उनके साहित्य में इस्लाम से सम्बन्धित कुछ शब्द आगए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। कबीर-साहित्य का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन पर इस्लाम का सीधा प्रभाव तनिक भी नहीं पड़ा था। हाँ सूफी सम्प्रदाय की प्रेम भावना का प्रभाव अवश्य था।

कबीर को इस्लाम से प्रभावित कहने वाले विद्वानों का कहना है कि कबीर ने ब्रह्म का जो स्वरूप उपस्थित किया है वह इस्लामी एकेश्वरवाद के ही समान है। परन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि—"जन्म से वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वास में वे एक दम मुसलमान नहीं थे। उनके ऊपर मुसलमानी संस्कृति और धर्म विश्वास का कोई गहरा असर नहीं पड़ा था।··· जिन खंडनात्मक विचारों के लिए उन्हें मुस्लिम प्रभावापन्न सुधारक माना जाता है उनकी परम्परा बहुत पुरानी थी।" डा० त्रिगुणायत का भी यही मत है—"खोज करने पर इस्लाम के उप सम्प्रदाय सूफी मत की बातें चाहे मिल जायँ किन्तु असली इस्लाम के तत्वों को ढूँढ़ निकालना बड़ा कठिन है। अत्यधिक खोज करने पर केवल इस्लामी नियतिवाद, साम्यवाद, पैगम्बरवाद तथा नूरवाद आदि की चर्चा एकाध स्थलों पर अवश्य मिल जाती है किन्तु इस्लाम धर्म के प्रमुख दो तत्व 'दीन' और 'इस्लाम के अङ्गों' का न तो कहीं विशेष वर्णन ही मिलता है और न उनके प्रति उनकी आस्था ही दिखाई देती है।"

कबीर के एक ब्रह्म की बात को आलोचक इस्लामी एकेश्वरवाद का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव मानते हैं। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि राम और रहीम की एकता की बात करते समय उनका अभिप्राय भारतीय 'अद्वैतवाद' के साथ इस्लामी 'पैगम्बरी खुदा' से सामंजस्य स्थापित करना नहीं है। उनका तो सीधा सादा यह कहना है कि ब्रह्म को राम और रहीम के रूप में दो मानने की कल्पना व्यर्थ है। ब्रह्म तो एक है और एक ही रहेगा। नाम के बदलने से वस्तु नहीं बदल जाती। दार्शनिक विवादों से परे रहने वाली साधारण जनता एक ही भगवान में विश्वास करती है और इसीलिए कबीर ने राम-रहीम, केशव-करीम, बिस्मिल-विश्वम्भर की एकता का प्रतिपादन कर एक ही ब्रह्म की उपासना पर बल दिया था—

"हमरे राम रहीम करीमा,
केसो अलह राम सति सोई।
विसमिल मेटि विसंभर एकै,
और न दूजा कोई।"

इस बात को यदि एकेश्वरवाद माना जाय तो अद्वैतवाद क्यों नहीं माना जा सकता। कबीर जानते थे कि 'राम' से 'हिन्दू' और 'रहीम' से मुसलमान सम्बन्धित हैं और यही नाम उनमें भेद उपस्थित कर देते हैं। इसीलिए वे जिस प्रकार ब्रह्म को स्वरूपातीत मानते हैं उसी प्रकार नामातीत भी। उनका ब्रह्म अल्लाह या राम से परे है—

"अल्ला राम की गम नहीं
तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय।"

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर पर इस्लाम का कोई भी उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा था। किसी धर्म विशेष के कतिपय शब्दों का किसी के साहित्य में प्रयुक्त होना इस बात का प्रमाण नहीं होता कि वह उससे प्रभावित था।

सूफी प्रभाव—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि—"मजहवी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थान पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेम मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार-प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो सका।'' इससे इतना सिद्ध हो जाता है कि सूफी मत उदारता पूर्ण प्रेम मार्ग का अनुयायी था। कबीर स्वयं उदारतावादी थे। ऐसी स्थिति में कबीर पर इस मत की कुछ अच्छी बातों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

सूफी मत पर आध्यात्मिकता का बहुत प्रभाव है। कहा जाता है कि सूफी सन्त 'हल्लाज' किसी समय भारत में आए थे और कदाचित यहाँ के शांकराद्वैत सिद्धान्त से प्रभावित भी हुए थे। हम संक्षेप में सूफी मत की विशेषताओं को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—१—इनकी भक्ति भावना का स्वरूप हमारी ही भक्ति भावना के समान है। सूफियों का प्रेम उग्र और बेचैनी से पूर्ण है। उनके यहाँ साधक स्वयं को पुरुष और परमात्मा को नारी मानकर चलता है जबकि हमारे यहाँ इसका उल्टा है। २—हमारे यहाँ व्यक्ति विशेष की आराधना त्याज्य है परन्तु सूफियों में इसे परमात्मा के प्रति प्रेम का प्रथम सोपान माना गया है। व्यक्ति विशेष की आराधना के कारण उनमें केवल प्रेम ही प्रेम रह जाता है। उसमें श्रद्धा का अभाव होने के कारण वह भक्ति नहीं बन पाता। ३—सूफी प्रकृति में अपने प्रियतम की झलक देखते हैं। ४—प्रियतम की प्राप्ति के लिए वे अनेक कष्ट झेलते हैं और अन्त में 'हाल' की दशा में उन्हें मुक्ति मिलती है। 'मैं' के मिटने पर ही प्रियतम से मिलाप होता है। ५—उनके यहाँ भावों की उग्रता अधिक है, मृदुता कम। तड़प और हाहाकार का प्राधान्य है। भारतीय भक्ति भावना में शान्ति और स्थिरता है।

सूफियों की हठयोग की साधना भारतीय नाथ पंथियों के हठयोग के ही समान है। उसमें केवल नामों एवं कुछ अवस्थाओं का ही अन्तर है। सूफियों में साधक की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं—(१) शरीयत, अर्थात् धर्मग्रंथों के विधि-निषेध का विधिवत पालन, (२) तरीकत, अर्थात् बाह्य कर्मों से रहित होकर भगवान् का शुद्ध ध्यान, (३) हकीकत, अर्थात् भक्ति और उपासना के प्रभाव सत्य का सम्यक बोध, (४) मारिफत, अर्थात् सिद्धावस्था। यह साधना नाथ पंथियों की त्रिविध साधना से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब हम कबीर पर पड़े हुए सूफियों के प्रभाव का विवेचन करेंगे।

'सूफियों' में हक अर्थात् ब्रह्म की सत्ता का सार प्रेम है। सृष्टि से पूर्व परमात्मा का प्रेम निर्विशेष रूप से अपने ही ऊपर था बाद में सृष्टि के रूप में उसका व्यक्तीकरण हुआ। यह भारतीय 'एकोहं बहुष्यामि' वाले विशिष्टाद्वैती सिद्धान्त का ही प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त सूफियों की एक दूसरी शाखा के अनुसार ब्रह्म शाश्वत सौन्दर्य रूप है। संसार के दर्पण में वह अपना प्रतिबिम्ब देखता रहता है। यह भारतीय अद्वैतवाद है। इन विभिन्न मतों की छाया कबीर में मिलती है। प्रेमवाद का तो उन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा हैं। इसी कारण उनके काव्य में 'प्रेम पियाला', 'प्रेम हिंडोला' तथा 'प्रेम भगति' आदि की चर्चा मिलती है। इस प्रेमतत्व का कबीर ने बहुधा उल्लेख किया है, जैसे—

"कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरसा आइ।
अन्तर भीगी आत्मा, हरी भई बनराइ॥"

डा० त्रिगुणायत कबीर के ब्रह्म वर्णन को सौन्दर्यवाद से प्रभावित मानते हैं। उनका मत है कि इस वर्णन में सूफियों का सा माधुर्य नहीं है—

"कबीर तेज अनन्त का मानों ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी कौतुक दीखा तेणि॥"

सूफियों के सृष्टि सम्बन्धी विचारों की छाया कहीं-कहीं कबीर में भी मिल जाती है। परन्तु सूफियों के मोक्ष सम्बन्धी विचारों से कबीर के विचार भिन्न हैं।

सूफी नैतिक आचरणों की शुद्धता पर विशेष बल देते हैं। हृदय और शरीर की शुद्धता वहाँ आवश्यक मानी गई है। कबीर में भी यही बात है। परन्तु डा० त्रिगुणायत इसे सूफियों का प्रभाव न मानकर वैष्णवों का प्रभाव मानते हैं।

सम्पूर्ण कबीर साहित्य का अध्ययन करने पर केवल दो ही बातें इसमें ऐसी मानी जा सकती हैं जिन्हें सूफी प्रभाव कहा जा सकता है—प्रेम की साधना और विरह की तड़प तथा दाम्पत्य प्रेम के रूप में ब्रह्म की उपासना। कबीर के अनुसार—

५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जिहि घट प्रीत न प्रेम रस पुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में उपजि भए बेकाम॥"

सूफियों के अनुसार प्रेम की चरम परिणति दाम्पत्य प्रेम में ही होती है और यह अनुभूति पर आश्रित है। इसीलिए वहाँ साधक और परमात्मा में पति पत्नी का सम्बन्ध माना गया है। कबीर ने भी इसी पद्धति को अपनाकर राम से अपना पति-पत्नी का सम्बन्ध जोड़ा है परन्तु उन्होंने सूफियों के समान अपने को पुरुष न मानकर 'हरि की बहुरिया' माना है।

"हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥"

सूफियों के समान ही कबीर भी राम के विरह में अहनिशि व्याकुल रहते हैं। अन्त में उन्हें प्रियतम मिल जाता है और वे प्रसन्नता से नाँच उठते हैं—

"घर आए हो राजा राम भरतार।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कबीर पर प्रेम, विरह एवं दाम्पत्य भाव को छोड़कर सूफियों के अन्य कोई भी प्रभाव नहीं पड़े हैं। वैसे कबीर साहित्य में सूफियों की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है परन्तु वह इतना अव्यवस्थित है कि उसके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

———

प्रश्न ११—कबीर के ब्रह्म विषयक विचारों की विशद विवेचना कीजिए।

उत्तर—कबीर उच्चकोटि के महात्मा और भक्त थे। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य ब्रह्म का अन्वेषण कर उससे साक्षात्कार करना है। इस ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिए उन्होंने धर्म ग्रन्थों द्वारा निर्देशित मार्ग का अनुगमन न कर स्वानुभूति के द्वारा ही उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया है या उसे प्राप्त किया है। कबीर की धारणा है कि प्रचलित वेद, कुरानादि ग्रन्थ भ्रमात्मक बातों से भरे पड़े हैं तथा उनकी व्याख्या करने वालों ने अपने वाग्जाल द्वारा उन्हें और भी भ्रमात्मक बना दिया है। वे उनकी व्याख्या तो करते हैं किन्तु उनकी भीतरी बातों से अनभिज्ञ ही रहते हैं। यही दशा वेदों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्याख्या करने वाली स्मृतियों की है। साथ ही 'षट् दर्शन' और 'छानवे पाखंडों' को मानने वाले भी सच्चे ज्ञान से वंचित रहते हैं। इसका कारण यह है कि उक्त धर्म ग्रन्थों के पाठक जितना उनके शब्दों की तरफ ध्यान देते हैं उतना उनके अर्थों की तरफ नहीं। इसलिए इन ग्रन्थों का आश्रय न लेकर साधक एवं जिज्ञासु को स्वतंत्र रूप से अपने निजी अनुभव के बल पर ही, अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे जैसे साधक विचार करता जायेगा वैसे वैसे उसका अनुभव गहरा एवं विस्तृत होता जायेगा और अन्त में उसे उस सत्य स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जायेगा।

इसलिए ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए पराश्रय को छोड़कर केवल स्वानुभूति पर ही अवलम्बित रहना चाहिए। उन्होंने अपने विषय में स्वयं कहा है कि—

"करत विचार मन ही मन उपजी, ना कहीं गया न आया।"

ब्रह्म की प्राप्ति मुझे धीरे धीरे चिन्तन करते करते ही हुई—

"चेतत चेतत निकसिओ नीरु। सो जल निरमलु कथत कबीर॥"

इसी अनिवर्चनीय 'रामजलु' का वर्णन कर उन्होंने इसे ही सबका मूलाधार, सत्य स्वरूप, नित्य एवं एकरस तत्व माना है और उसे भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया है। कबीर इसका वर्णन करने में असमर्थ हैं—

"कहै कबीर यहु अकथ है, कहतां कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई॥"

इसलिए कबीर के ब्रह्म का स्वरूप सामूहिक या साम्प्रदायिक न होकर व्यक्तिगत है। जिसकी अनुभूति जितनी गहरी होगी वह उसके स्वरूप को उतना ही अधिक समझ सकेगा। आजतक कोई भी उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं जान सका है। कबीर स्वयं भी उसके पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं करते। उनके विचार से वह वस्तुतः जैसा है वह किसी को भी ज्ञात नहीं—

"जस तूं तस तोहि कोई न जांन। लोग कहैं सब आनहि आन॥"

इसलिए वह जैसा है वैसा बना रहे हमें तो अपनी शक्ति के अनुसार ही उसका ज्ञान प्राप्तकर उसके गुणगान में आनन्दमग्न होना है—

"हरि जैसा है तैसा रहौ, तूं हरिषि हरिषि गुण गाय॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्म का ज्ञान बिना ब्रह्म जिज्ञासा के नहीं हो सकता। इस जिज्ञासा के उत्पन्न होते ही साधक के मन में संसार के प्रति वैराग्य एवं निर्वेद की भावना जाग्रत हो उठती है। परन्तु स्वयं के प्रयत्न से इस जिज्ञासा की शान्ति नहीं हो सकती। इसके लिए 'सतगुरु' की आवश्यकता होती है। इसी कारण कबीर गुरु की खोज में अपना घर जलाकर निकल पड़ते हैं—

"हम घर जाल्या आपणा लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जालौं तास का जो चलै हमारे साथ॥"

मार्ग में 'माया' ने उन्हें बहुत भटकाया परन्तु अन्त में—

"जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिल्या आई॥

इससे पूर्व यह स्थिति थी कि—

"पाछै लागा जाई था लोक वेद के साथ।

परन्तु मार्ग में—

"आगे थे सतगुरु मिला दिया दीपक हाथ।"

और सतगुरु ने क्या किया कि—

"सतगुरु हमसे रीझकर, एक कहा पर संग।
बरसा बादल प्रेम का, भीज गया सब अंग॥"

और इसका परिणाम यह निकला कि—

"पूरे से परचा भया सब दुख मेल्या दूर।
निरमल कीन्ही आतमा ताथै सदा हुजूर॥"

जब उस पूर्ण से परिचय हुआ तो मैं उसी में आत्मसात हो गया—

"पाणी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कुछ था सोई भया, अब कछु कह्या न जाइ॥"

परन्तु कबीर ने जो कुछ देखा वह अवर्णनीय था, उसे तो स्वयं साक्षात् करने पर ही समझा जा सकता है—

"अविगत अगम अनूपम देख्या, कहताँ कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जानि मिठाई॥

गूंगे द्वारा गुड़ के स्वाद का संकेतों द्वारा प्रकट करने के समान ही ब्रह्म को भी ऐसे ही संकेतों से व्यक्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है। अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न जैसी स्थिति में मैंने उस निधि की जो थोड़ी सी झलक पाई उसकी शोभा अपार थी, वह हृदय में समा नहीं रही थी। लोभ और अहंकार की प्रवृत्तियाँ नष्ट हो गई थीं—

"स्यंचिति ह्वै सुपिनैं निधि पाई। नहीं शोभा कौं धरै लुकाई॥
हिरदै न समाइ जानियै नहिं पारा। लागै लोभ न और हकारा॥"

ब्रह्म स्वरूप—कबीर के ब्रह्म का स्वरूप किसी निश्चित दार्शनिक विचार धारा से प्रभावित न होकर स्वानुभूति रूप है। इसीलिए कहीं वह साकार प्रतीत होता है और कहीं निराकार यद्यपि कबीर ने उसका वर्णन निराकार के ही रूप में किया है। यद्यपि कबीर ने ब्रह्म का निरूपण वैदिक ब्रह्म निरूपण के ही ढंग पर किया है परन्तु वह अन्य धार्मिक भावनाओं से भी प्रभावित है। उपनिषदों की परिपाटी पर किया हुआ उनका ब्रह्म निरूपण द्वैताद्वैत विलक्षणवाद जैसा है। वेदों का शब्द ब्रह्म भी उसमें अन्तर्भुक्त हो जाता है। बौद्धों, सिद्धों और योगियों के शून्य ब्रह्म की भी उस पर छाया है। इस्लामिक एकेश्वरवाद, सूफियों के नूरवाद, इश्कवाद की भी उसमें झलक मिल जाती है। उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रभावों को देखकर डा० त्रिगुणायत इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि—"कबीर का ब्रह्म निरूपण वैदिक ऐकेश्वरी अद्वैतवादी होते हुए भी सर्वात्मवाद और परात्परवाद के अधिक समीप है। किन्तु अनेक स्थलों पर उसका स्वरूप अन्य विविध धर्मों की ब्रह्म भावना से भी संवारा गया है।"

कबीर का ब्रह्म प्रधान रूप से अव्यक्त स्वरूप है परन्तु उनकी रहस्यभावना और भक्तिभावना के कारण कहीं-कहीं वह व्यक्त स्वरूप भी हो जाता है। मूलतः अव्यक्त स्वरूप की ही उपासना करने के कारण वे उसे हृदय में नमस्कार करते हैं, उसके लिए उन्हें धार्मिक विधि-विधानों की आवश्यकता नहीं होती—

"पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ,
एक निराकार हिरदय नमसकारूँ।"

इसी भावना के अनुरूप उनका ब्रह्म 'गुनअतीत', 'गुनबिहून', 'निरगुन', 'निराकार' है। वह—

"अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनि अस्थूल रूप नहिं रेखा, दिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहिं पेखा।" है। कभी-कभी वे उसे तत, परमतत, निजतत, आतम; कभी सार, सवद, अनहद, अंतरधुनि, परमपद, सहज, सुनि, सति, ग्यान, अनन्त, अमृत, उन्मन, गगन, ज्योति, ब्रह्म आदि भी कहते हैं। उपर्युक्त सभी शब्द निर्गुण ब्रह्म के बाचक हैं।

सगुण ब्रह्म—कबीर ने ब्रह्म का सगुण रूप भी दिखाया है। वे उसे सृष्टिकर्ता मानकर कहते हैं—

"आपन करता भए कुलाला। बहु विधि सृष्टि रची दर हाला।
विधना कुम्भ कीये द्वै बानाँ। प्रतिबिम्ब ता मांहि समाना॥
बहुत जतन करि बातक बना। सौंज मिलाय जीव तहाँ ठाना॥"

कबीर ने ब्रह्म के विराट स्वरूप का भी चित्रण किया है—

"कोटि सूर जाकै परगास, कोटि महादेव अरु कविलास।
दुर्गा कोटि जाकै मर्दन करै, ब्रह्मा कोटि वेद उचरै॥
कद्रप कोटि जाके लव न धरहि अन्तर अन्तरि मनसा हरहि॥"

इसी प्रकार ये कभी विष्णु के पौराणिक रूप की कल्पना करते हैं और कभी नृसिंह एवं कृष्णावतार की भी चर्चा करते हैं।

कबीर भक्त हैं इसीलिए अपने उपास्य में संसार के सम्पूर्ण गुणों की स्थापना कर देते हैं। इनका भगवान संवेदनशील, करुणामय और तीनों लोकों की पीर जानने वाला है। इसलिए कबीर उसकी बन्दना करते हुए कहते हैं—

"भजि नारदादि सुकादि बंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजंसि भूषन पिया मनोहर देव देव सिरोवनी॥
बुधि नाभि चन्दन चरच्चिता तन रिदा मंदिर भीतरा।
राम राजसि नैन वानी सुजान सुन्दर सुन्दरा॥
बहु पाप परवत छेदना भौ ताप दुरति निवारणा।
कहै कबीर गोविन्द भज परमानन्द बन्दित कारणा॥"

उपर्युक्त बन्दना साकार ब्रह्म की उपासना करने वाले भक्तों की परम्परा में आती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगियों के अनुसार कबीर जब ब्रह्म को ज्योति स्वरूप मानते हैं तब वह निर्गुण और सगुण दोनों ही बन जाता है—

"शरीर सरोवर भीतर आछै कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुषोत्तमों जाके रेख न रूप॥"

वह ज्योति आकार हीन होने के कारण निराकार है तथा दिखाई देने के कारण साकार है।

निर्गुण सगुण रूप—परन्तु वास्तविकता यह है कि कबीर का ब्रह्म न तो पूर्णरूपेण निर्गुण ही है और न सगुण ही। वह निर्गुण और सगुण दोनों से परे हैं और अनुभव में आजाने पर भी अनिर्वचनीय है। कबीर का कथन द्रष्टव्य है—

"संतों धोखा काँसू कहिए।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है, बाट छाँड़ि क्यूं बहिए॥
अजरा अमरा कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति सरूप वरण नहिं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई॥
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाँड़ि जे कथिए, कहै कबीर हरि सोई॥"

उपर्युक्त पद से यही ध्वनि निकलती है कि कबीर का ब्रह्म सर्वातीत, परात्पर, सर्व विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है। वह हिंदुओं के राम, योगियों के गोरख, मुसलमान के खुदा से भिन्न है—

"जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर का स्वामी घट-घट रहा समाई॥"

परन्तु कबीर जब किसी प्रकार ब्रह्म का पूर्ण वर्णन नहीं कर पाते तो अन्त में हार कर कहते हैं कि वह चाहे जैसा हो, हमें तो उसके गुण गाने से मतलब—

"हरि जैसा तैसा उहि, रहौं हरसि गुन गाथ।"

क्योंकि उन्होंने कभी देखा तो है नहीं फिर कैसे कह दें कि वह कैसा है—

"भारी कहूँ तो बहु डरूँ हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जानो राम की कबहु न नैनन दीठ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए—

"दीठा है तो कस कहूँ, कहिया न कोइ पतियाय।
हरि जैसा है वैसा रहो तू हरखि हरखि गुण गाय ॥"

हम ऊपर बता आए हैं कि कबीर का ब्रह्म विभिन्न मत-मतान्तरों की धारणाओं से प्रभावित है। इसीलिए उसके व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही स्वरूप कबीर-साहित्य में मिल जाते हैं यद्यपि प्रधानता अव्यक्त स्वरूप की ही है। उनके व्यक्त स्वरूप के वर्णन अधिकतर भावनामूलक या बुद्धि मूलक ही हैं। परन्तु उनका व्यक्त ब्रह्म भी सर्वत्र इन्द्रियातीत ही है। इसलिए उसे सगुण नहीं मान सकते। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि कबीर का ब्रह्म विभिन्न मत मतान्तरों से प्रभावित होते हुए भी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म के अधिक निकट हैं। इसी कारण डा० त्रिगुणायत कबीर को निर्गुणोपासक मानते हुए उन्हें परात्परवादी और सर्वात्मवादी कहते हैं।

———

प्रश्न ११—कबीर के आत्मा अथवा जीव सम्बन्धी मतों का स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर—कबीर आत्मा को परमात्मा से भिन्न नहीं मानते। आत्मा की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि—

"ना इहु मानस ना इहु देउ। ना इहु जती कहावै सेउ ॥
ना इहु जोगी ना अवधूता। ना इहु माइ न काहू पूता ॥

× × ×

या मन्दिर मह कौन बसाई। ता का अन्त कोउ न पाई।
ना इहु गिरहीं ना ओदासी। ना इहु राजा ना भीख मंगासी ॥
ना इहु पिंड न रक्त न राती। ना इहु ब्रह्मन ना इहु खाती ॥
ना इहु तपा कहावै सेखा। ना इहु जीवै मरता देखा ॥
इस मरते कौ जे कोई रौवै। जो रोवै सोई पति खोवै ॥
कहै कबीर इहु राम कौं अंस। जस कागद पर मिटै न मंसु ॥"

आत्मा तो उसी राम का एक अंश है अतः उससे भिन्न नहीं हो सकता। शरीर स्थिति इस जीवात्मा को वे स्पष्ट रूप से हरि की संज्ञा देते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हरि महि तनु है, तनु महि हरि है सरब निरन्तर सोई।"

यह केवल माया ही है जो ब्रह्म और आत्मा में भ्रमात्मक विभेद उत्पन्न कर देती है। वैसे ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं। उनका यह आत्मा का निरूपण गीता के अनुसार तथा शुद्ध अद्वैतवादी है।

कबीर का ब्रह्म, विश्वात्मा तथा आत्मा एक ही हैं। 'कुम्भ' के रूपक द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा शरीर बद्ध होने के कारण ही ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होने लगती है—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कथ्यो गियानी ।।"

माया जीव या आत्मा को शरीर में बद्ध कर भ्रम उत्पन्न कर देती है। गोस्वामी तुलसीदास की आत्मा विषयक धारणा भी इसी प्रकार की है—

"ईश्वर अंश जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी ।।
सो माया बस परेउ गुसाईं।
बंधेउ कीर मरकट की नाईं ।।"

कबीर भी आत्मा को माया के आधीन कहते हैं—

"जीवा कौ राजा कहैं माया के आधीन ।।"

कबीर आत्मा को जीव, प्राण, दीपक की ज्योति, सब घटवासी अद्वैती तत्व, निरंजन, ज्ञान स्वरूप, सक्रिय और स्वयं प्रकाश चेतन रूप आदि मानते हैं। यही लक्षण उन्होंने ब्रह्म के भी दिए हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

प्राण—प्राण त्यंड को तजि चले,
· मुआ कहै सब कोई।"

दीपक की ज्योति—"मन्दिर मांहि झपूकती दीवा कैसी जोति।
हंस बटाऊ चलि गया काढ़ौ घर की छोति ।।"

सब घट बासी—"अबरन एक अलक अविनासी घट घट आप रहै।"

निरंजन—"निज स्वरूप निरंजना, निराकार अपरम्पार अपार।"

कबीर आत्मा को कभी अमर मानते हैं और कभी ब्रह्म के समान। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है इसीलिए आत्मा भी आनन्द स्वरूप है। साथ ही वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनादि और सनातन भी है अतः उसका हनन नहीं किया जा सकता। इसीलिए वे मुल्ला द्वारा जीव हत्या किए जाने पर उसे सम्बोधन कर कहते हैं—

"पकरि जीउ आन्या देह बिनासी माटी को विसमिल किया।
ज्योति सरूप अनाहत लागी कहु हलालु क्यों किया॥"

आत्मा का उपर्युक्त वर्णन शुद्ध भारतीय वेदान्ती परम्परा के अनुरूप है। अद्वैतवादियों के समान उन्होंने आत्मा को प्रकाश रूप भी माना है।

आत्मा और ब्रह्म के उपर्युक्त अद्वैत की स्थापना कर कबीर कहते हैं कि जो लोग इनमें अलगाव अथवा द्वैत का सम्बन्ध मानते हैं उन्हें नर्क प्राप्त होता है और उनकी बुद्धि मोटी है—

"जो रिझाऊँ तो महा कठिन है, बिन रिझायैं थै सब खोटी।
कहै कबीर तरक दोइ साधै ताकी मति है मोटी॥"

तथा

"हमे तो एक एक करि जाना।
दोइ कहैं तिनहीं कौ दोजग, जिन नाहिंन पहचाना॥"

कबीर आत्मा को ब्रह्म का अंश मानकर अंशांशि भाव प्रकट करते हैं। इसके लिए एक स्थल पर आत्मा को—"कहु कबीर यह राम को अंसु, जस कागद पर मिटै न मंसु" कहा है और दूसरे स्थान पर बिन्दु और समुद्र का सम्बन्ध दिखाकर भी यही निर्देश किया है—

"हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद में, सो कत हेरया जाय॥"

आत्मा और ब्रह्म का यह अंशांशि भाव शंकर के अद्वैतवाद के समान है।

जब जीव और ब्रह्म का अंशांशि सम्बन्ध है तो फिर जीव भ्रम में पड़कर ब्रह्म को भूल कैसे जाता है। इसका कारण माया को बताया गया है। जीव इसी माया जनित भ्रम को दूर कर ब्रह्म में लीन हो जाता है और इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव और ब्रह्म का तादात्म्य हो जाता है। डा० त्रिगुणायत इस तादात्म्य को तीन प्रकार का मानते हैं—

१—भावात्मक

२—यौगिक

३—ज्ञानात्मक

भावात्मक—भक्ति के लिए भगवान के सगुण स्वरूप की कल्पना की जाती है। कबीर के उपास्य निर्गुण और सगुण दोनों ही हैं। इसलिए उनके इस वर्णन में रहस्यवाद आ गया है। उनकी भक्ति भावना रहस्य भावना से ओतप्रोत है। भक्ति की पराकाष्ठा होने पर आत्मा माया का पर्दा फाड़कर परमात्मा से जा मिलती है।

यौगिक—आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य योग के द्वारा भी सम्भव है। योग क्रिया की पूर्णता पर दोनों का तादात्म्य हो जाता है।

ज्ञानात्मक—आत्मा और परमात्मा एक ही हैं। उनमें वस्तुतः कोई भी भेद नहीं है। भेद का भ्रम माया उत्पन्न करती है। साधक ज्ञान के द्वारा जब माया को नष्ट कर देता है तब कबीर के समान इसी जीवन में जीवन्मुक्त हो जाता और मृत्यु के उपरान्त अद्वैतवाद को प्राप्त होता है।

(उपर्युक्त तादात्म्य प्राप्त करने के तीनों प्रकारों का सम्बन्ध रहस्यवाद से है इसलिए रहस्यवाद का विवेचन करते समय इनका विस्तृत उल्लेख किया जायेगा।)

———

प्रश्न १२—कबीर के माया सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—जीव का ब्रह्म से तादात्म्य होने में बाधक सबसे बड़ी शक्ति माया है। इसी कारण कबीर ने स्थान-स्थान पर उसके विभिन्न रूपों की निन्दा की है। उन्होंने माया को एक ऐसी व्यापक शक्ति माना है जिसके चंगुल से देवता भी नहीं बच पाते—

"माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए कर डोलै बोलै मधुरी बानी।।

यह माया एक परम सुन्दरी तथा विश्व मोहिनी नारी है जिसका स्वभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही ठगना और फँसाना है। कोई लाख प्रयत्न करे मगर उसके जाल से बच नहीं सकता। वह साधक को बार-बार पकड़ती रहती है। वह जल, स्थल, आकाश में समान रूप से व्याप्त है और कभी माता-पिता, कभी स्त्री, पुत्र, कभी आदरमान तथा कभी जप-तप एवं योग के रूप में भी बन्धन में डाल दिया करती है। कबीर इससे इसी कारण बच पाए हैं क्योंकि उनके आधार राम हैं—

"माया तजूँ तजी नहीं जाइ।
फिर फिर माया मोय लिपटाइ॥
माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियान।
माया रस माया कर जान, माया कारनि तजै परान॥
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सब ही लोग।
माया जल थल माया अकास, माया व्यापि रही चहुं पास॥
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता॥
माया मारि करै व्योहार, कहै कबीर मेरे राम आधार॥

कबीर पर भी इस माया ने फंदा डाला था मगर वे उसे काट कर अपने राम से मिल गए—

"कबीर माया पापिणी, फंद लै बैठी हाटि।
सब जग तो फंदै पड़या, गया कबीरा काटि॥

इस माया का रूप बड़ा मधुर है। वह अज्ञानी पुरुष को खिला-खिला कर खाती है—

"मीठी-मीठी माया तजी नहिं जाई।
अगयानी पुरुष को भेलि-भेलि खाई॥"

शंकर स्वामी ने माया को भ्रम माना है। कबीर भी उन्हीं के समान माया को भावमय भ्रम मानते हैं—

"पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार।
इन्हीं भरोसे जो रहे तौ बूढ़ै कालीधार॥"

'पाहन केरा पुतला' ठोस वस्तु है परन्तु उसमें 'करतार' की कल्पना कर लेना भ्रम है क्योंकि वह वास्तव में पत्थर ही है ईश्वर नहीं। पत्थर में ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

की कल्पना कर लेना वैसा ही भ्रम है जैसा कि रज्जु में सर्प की कल्पना कर लेना। इस प्रकार वेदान्तियों के सामान कबीर की माया भी भावरूप भ्रान्ति है। वेदान्त में माया को अनिवर्चनीय कहा गया है। जिस प्रकार संसार का उपादान कारण न केवल सद् है और न असद् है, सम्भव है वह इन दोनों का मिश्रण हो परन्तु ऐसी कल्पना असम्भव है क्योंकि संसार का उपादान कारण कभी भी असद् नहीं हो सकता। इसी कारण वह अनिर्वचनीय है। ऐसे ही माया भी अनिर्वचनीय है। उसे समझा नहीं जा सकता। वह सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में व्याप्त है—

"निर्गुण सगुण नारी संसार पियारी।
लखमणि त्यागी, गोरख निवारी॥"

माया का रूप विचित्र है। वह सद भी है और असद भी है। उसके ये ही दोनों रूप लोगों को धर्म और अधर्म में लीन किए रहते हैं। इनका फल आकाश अर्थात् परलोक में मिलता है—

"आगम बेलि अकास फल अण ब्यावर का दूध।
ससा सींग की धूधहड़ी, रमैं बांझ का पूत॥"

माया का असद् रूप शशक शृंग, बांझ-पुत्र की क्रीड़ा और बिन ब्याही गाय के दूध के समान काल्पनिक है। अतः माया का रूप अनिर्वचनीय है।

माया के समस्त व्यापार मिथ्या हैं। जिस प्रकार नट के खेलों का रहस्य समझ में नहीं आता उसी प्रकार माया के व्यापार भी अनिर्वचनीय हैं। उन्हें केवल मायापति ब्रह्म ही समझता है—

"नट बहु रूप खेले सब जाने, कला करे गुन ठाकुर माने।
औ खेले सबही घट माही, दूसर के लेखे कछु नाहीं॥
जाके गुन सोई पै जाने और को जानै पार अयाने॥"

यह माया ही वस्तुतः उस परमतत्व की नटसारी वा लीला है और उसका रहस्य केवल वही समझता है।

वेदान्त की माया को सांख्य में त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहा गया है। कबीर की माया त्रिगुणात्मिका प्रकृति से बहुत मिलती जुलती है—

"रजगुण तमगुण सतगुण कहिए यह सब तेरी माया।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति परिवर्तनशील है। कबीर की माया भी ऐसी ही है—

"कबीर माया डोलनी, पवन बहै हिवधार।"

एक स्थल पर इन्होंने जगत को एक वृक्ष के रूप में कल्पित कर उसकी तीन, शाखाएं, आठ पत्र और दो फल पाप, पुण्य माने हैं—

"सूख विरख यहु जगत उपाया, समझि न मेरे विषम तेरी माया।
शाखा तीन पत्र जुग चारी, फल दोइ पाप पुंन अधिकारी॥"

इसमें तीन शाखाएं त्रिगुण-सत, रज, तम हैं तथा आठ पत्र अष्टधा प्रकृति प्रकृति, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएं हैं। यह वर्णन वेदान्तियों की अष्टधा प्रकृति के समान है।

माया परिवर्तनशील है जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं। वह उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। जीव इसी से भ्रम में पड़कर भगवान से विमुख रहता है इसी कारण आवागमन में पड़कर दुख भोगता रहता है। अतः माया दुख देने वाली है। कबीर इस माया से बड़े दुखी हैं—

सेजैं रहूँ नैन नहिं देखौं,
यह दुख कासौं कहूँ हो दयाल॥
सासु की दुखी ससुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देवर के विरह जरौं हो दयाल॥
बाप साव को करै लराई, माया सद मतिवाली।
सगौ भइया लै सलि चढ़िहूँ, तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी॥
सोचि विचारि देखौ मन मांही, औसर आइ बन्यूं रे।
कहै कबीर सुनहुँ मति सुन्दरि, राजा राम रमूं रे॥"

ऐसी दुखदायी, जीव को सदैव 'मोर तोर' के बन्धन में डाले रहने वाली माया अज्ञान रूपिणी है। जीव मुक्ति प्राप्त करने पर ही इस सांसारिक 'मोर तोर' की शृंखला से छुटकारा पाता है, उससे पहले नहीं। और यह मुक्ति राम के शरण में जाने से ही प्राप्त होती है।

माया के पाश में आबद्ध मनुष्य सदैव अपनी ही बात सोचता रहता है, इसी से परमात्मा से विमुख रहता है। इसलिए परमात्मा को प्राप्त करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए इस माया रूपी ममता को त्यागना पड़ता है—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं।"

इसलिए ज्ञानी माया के त्याग को आवश्यक बताते हैं। माया के ही कारण विभिन्न सांसारिक पाखंडों की सृष्टि होती है। इसीलिए माया का असली निवास पाखंडियों के ही पास होता है। अतः कबीर माया को सम्बोधन कर कहते हैं—

"तहाँ जाहु जंह पटम्बर, अगर चन्दन घसि लीना।"

इसलिए कबीर भक्तों को माया से बचने का साधन बताते हुए कहते हैं कि संसार से विमुख रहने पर ही माया से पीछा छूटता है—

"औंधा घड़ा न जल में डूबे, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यह जग घिन करि चालै, ना प्रसादि निस्तरिया॥"

अर्थात् जैसे उलटा घड़ा पानी में नहीं डूबता परन्तु वही सीधा होने पर भरकर डूब जाता है, वैसे ही संसार के सम्मुख होने से मनुष्य माया में डूब जाता है परन्तु विमुख रहने पर माया से मुक्त रहता है।

माया अज्ञान का ही दूसरा रूप है। जिस प्रकार दर्पण पर काई लगने से वह धुंधला हो जाता है उसी प्रकार आत्मा पर माया का अज्ञान रूपी आवरण पड़ जाने से परमात्मा के दर्शन अर्थात् आत्मज्ञान दुर्लभ हो जाता है, इसलिए इस आत्मा रूपी दर्पण को निर्मल रखना चाहिए—

"जो दरसन देख्या चाहिए, तौ दरपन मांजत रहिए।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई॥"

इस दर्पण के मांजते रहने से माया हरिभक्तों की चेरी बन जाती है। भक्ति ही से मायाकृत अन्धकार दूर होता है—

"उचित चेत च्यंति लै ताहीं। जा च्यंतत आपा पर नाहीं॥
हरि हिरदै एक ज्ञान उपाया। ताथै छूट गई सब माया॥"

परन्तु माया इतनी दुष्ट है कि राम की भक्ति भी नहीं करने देती। अनेक प्रलोभनों द्वारा वह भक्त के मन को आकर्षित करती रहती है। सारे प्राणी इस माया के मोह में पड़े हुए हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जल महि मीन माया के बेधे, दीपक पतंग माया के छेदे।
माया ऐसी मोहिनी भाई, जेते जीव तेते डहकाई ।।" आदि

इसके प्रभाव से चौरासी सिद्ध, छः यती, नौ नाथ, सूरज, चन्दा आदि कोई भी नहीं बचा है। जीव किंचित लाभ के लिए 'मानिक' को खो देता है—

"रे रे जिय अपना दुख न संभरा, जिहिं दुख व्यापा सब संसारा।
माया मोह भूले सब कोई, क्यंचित लाभ मानिक दियौ खोई ।।"

सारे जीव—"मोर तोर करि जरै अपारा, मृग तृष्णा झूठी संसारा।।
माया मोह झूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी ।।"

इसलिए—"समझि विचारि जीव जब देखा, यह संसार सुपनि कर लेखा।"

तब—"भई बुधि कछू ग्यान निहारा, आप आप ही किया विचारा ।।

और स्वयं ही चिन्तन करने से ज्ञान उत्पन्न हुआ कि—

"आपण मैं जो रहे समाई, नैडे दूरि कथ्यौ नहीं जाई ।।
ताके चीन्है परचौ पावा, भई समझि तासूं मन लावा ।।"

जब 'उससे' मन लगा तब यह परिणाम निकला कि—

"भया दयाल विषहर जरि जागा, गहगहात प्रेम बहु लागा ।।
भया अनंद जीव भए उल्हासा, मिले राम मनि पूगी आसा ।।"

और राम से मिलन होने पर—

"गुरु प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै मूल ।।"

इस प्रकार 'संसै मूल' के नष्ट हो जाने पर माया के सम्पूर्ण बन्धन कट गए और कबीर ब्रह्मानन्द में लीन हो गए। यह भेद बुद्धि उत्पन्न करने वाली माया बड़ी दुष्टा है। कबीर तो इसके बंधन को काट गए परन्तु सामान्य जीव में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह इसके फन्दे से बच सके। इसीलिए कबीर ने उसे खूब गालियां दी हैं, डाकिनी, पिशाचिनी, डायन, नकटी आदि कहा है।

माया जीव को बहकाती कैसे है, इसके लिए कबीर का कहना है कि वह मन को अपने वश में कर लेती है। उसका निवास स्थान 'मन' है। वह मन में रह कर अपने अनुचरों क्रोध, लोभ, मद, मत्सर, काम, मन, तृष्णा आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सहायता से उसे बहकाती रहती है—

"इक डायन मेरे मन बसै नित उठ मेरे जिय को डसै ।"

और इस डाइन के पाँच लड़के (काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद) हैं। कनक और कामिनी उसके सबसे बड़े सहायक हैं। ये 'रुई लपेटी आगि' के समान हैं। इनसे त्राण पाना दुष्कर है—

"माया की झल जग जाल्या कनक कामिनी लागि ।
कहु धौ बिधि राखिए रुई लपेटी आगि ॥"

ऐसी शक्ति शालिनी माया जानती है कि जीव को यदि ब्रह्म का ज्ञान हो गया तो वह मेरी बात भी नहीं पूछेगा, इसीलिए वह सदैव जीव और ब्रह्म के मिलन में बाधा डालती रहती है—

"कबीर माया पापिणी हरि सूँ करै हराम ।
मुख कड़ियाली कुमति की कहन न देई राम ॥"

और भगवान से दूर रखने के लिए वह हाट में बैठी हुई वेश्या का रूप धारण कर जीव को अपने जाल में फंसाने का प्रयत्न करती रहती है परन्तु कबीर सजग थे इसलिए इसके फन्दे से बच गए—

"सब जग तो फन्दे पड़या गया कबीरा काटि ॥"

अब प्रश्न यह उठता है कि जीव को ब्रह्म से दूर रखने का प्रयत्न करने वाली इस माया की उत्पत्ति कैसे हुई। कबीर उसे ब्रह्म विनिर्मित मानते हैं तथा उनका कहना है कि माया का प्रपंच ब्रह्म की ही लीला है—

"जिन नट वै नटसारी साजी जो खेलै सो दोखै बाजी ।"

साँख्य के ब्रह्म और प्रकृति के सम्बन्ध के अनुसार कबीर ने कहीं-कहीं ब्रह्म को माया का 'खसम' माना है—

"तेतो माया मोह भुलाना, खसम राम सो किनहु न जाना ।"

कबीर ने माया के दो भेद माने हैं: एक वह जो ब्रह्म से मिलाती है और दूसरी जो ब्रह्म से दूर करती है—

"माया दुइ भांति देखी ठोक बजाय ।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय ॥"

६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे स्थान पर उन्होंने तुलसी के समान माया के विद्या और अविद्या नामक दो भेद माने हैं। विद्या ब्रह्म से मिलाती है और अविद्या रोड़े अटकाती है। इसी तरह उन्होंने उसके 'मोटी' और 'झीनी' दो भेद माने हैं। अनेक स्थानों पर कबीर ने 'निरंजन' को भी माया के ही समान महा ठग और संसार को बहकाने वाला माना है

"अबधू निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग पताल जीव मृत मंडल तीन लोक विस्तारा।
ब्रह्मा विष्णु सिव प्रकट कियो है ताय दियो सिर भारा॥
ठाँव ठांव तीरथ ब्रत थाप्यौ टगने को संसारा।
माया मोह कठिन विस्तारा आपु भयौ करतारा॥
सतगुरु शब्द को चीन्हत नाहीं कैसो होय उबारा।
जारि भूंजि कोइला करि डारै फिरि फिर लै अवतारा॥
अमरलोक जहाँ पुरुष विराजै तिनका मूँदा द्वारा।
जिन साहब से भए निरंजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन काल ते बांचा चाहो गहो शब्द टकसारा।
कहँ कबीर अमर कर राखौ मानौ शब्द हमारा॥'

उपर्युक्त पद में कबीर ने निरंजन को स्पष्ट रूप से माया तो नहीं कहा है परन्तु इसका वर्णन माया के ही समान है। माया की ही तरह निरंजन भी सारे संसार को भ्रम में डालकर स्वयं ही 'करतार' होने का ढिंढोरा पीटता है। इसलिए इसे भी माया का ही स्वरूप मानना पड़ेगा।

उपर्युक्त माया-विश्लेषण के आधार पर हम डा० त्रिगुणायत के शब्दों में माया के विषय में यह कह सकते हैं कि—"कबीर का मायावाद सम्भवतः भागवत, पुराण और शंकराचार्य के माया वर्णनों से प्रभावित है। उस पर उपनिषदों का इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है जितना इन दोनों का। शंकर की माया के समान कबीर की माया भी अनिर्वचनीय तत्व हैं। वह साँख्यों की प्रकृति के समान प्रसव धर्मिणी और त्रिगुणात्मक भी है। सूफियों के शैतान के समान उनकी वह माया आध्यात्म साधना में बाधा रूप भी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर की यह माया तत्व भाव रूप होते हुए भी 'अध्यास'* मात्र हैं। वह सत्य तत्व से भिन्न हैं। कबीर में माया के भावात्मक वर्णन भी मिलते हैं। ये वर्णन निम्नकोटि के रहस्यवाद के अन्तर्गत आ सकते हैं। कबीर की माया का विस्तार बड़ा व्यापक है। जहाँ तक मन और इसके विकारों की पहुँच है वह सब माया हैं। इसीलिए मन और माया का घनिष्ठ सम्बन्ध माना हैं। मन के विकार ही माया के कुटुम्बी हैं। इस प्रकार कबीर का माया वर्णन अपनी अलग मौलिकता रखता हैं।

———

प्रश्न १३—कबीर के जगत अथवा सृष्टि विषयक विचारों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—अत्यन्त प्राचीन काल से सृष्टि विज्ञान तथा सृष्टि उत्पन्न होने का जो क्रम वर्णित होता आया है वह परस्पर भिन्न है। कहीं सांख्य के अनुसार चौबीस अथवा पच्चीस तत्वों से सृष्टि का विकास दिखाया गया है तो कहीं 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि वाक्यों द्वारा चैतन्य से जड़ जगत की उत्पत्ति बताई गई है। कहीं परमात्मा के 'एकोऽहं बहुस्याम्' इस संकल्प से इस नाम रूपात्मक जगत का प्रादुर्भाव कहा गया है तो कहीं स्वयं ईश्वर का ही नाना जीवों का स्त्री-पुरुष रूप धारण करके अनेकता में परिणत होना बताया गया है। कहीं प्रथम तेज की उत्पत्ति कही गई है तो कहीं जल की। इसी प्रकार कबीर साहित्य में भी हमें सृष्टिक्रम के अनेक रूप मिलते हैं। उन्होंने कहीं "प्रथम सुरति समरथ कियो, घट में सहज उचार" तथा कहीं शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति बताई है। दादू ने एक स्थान पर ऊँकार से सृष्टि की उत्पत्ति बताई है—

"पहली किया आप थैं उत्पत्ति ऊँकार।
ओंकार थें ऊपजे, पंच तत्व आकार॥"

मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कबीर के मन में भी सृष्टि को देखकर उसका रहस्य जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी—

---

*'अध्यास' का अर्थ हैं अतद् में तद् बुद्धि का होना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कहौ भइया अम्बर कासूं लागा। कोई जानेगा जाननहार सभागा।
अम्बर दीसै केता तारा। कौन चतुर ऐसा चितरन हारा॥"

कबीर सृष्टि के सृजन और लय का कारण परमात्मा को तो मानते हैं परन्तु उन्होंने यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा कि सृष्टि की रचना कैसे और किस क्रम से हुई, कौन तत्त्व पहले हुआ और कौन पीछे। वे इस विषय में केवल शंकामात्र उठा कर रह गए हैं, उसका समाधान नहीं किया है—

"प्रथमे गगन कि पुहुमि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पवन कि पाणीं।
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभू, प्रथमे कौन बिनांणीं॥
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभू, प्रथमे रकत की रेंत।
प्रथमे पुरुष कि नारि प्रथमे प्रभू, प्रथमे बीज की खेंत ?।
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभू, प्रथमे पाप कि पुण्यं।
कहै कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ अहि कि सुन्यं॥"

इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर उन्होंने सृष्टि को अत्यन्त रहस्यमय जाना और उसके मूल में छिपी हुई किसी अव्यक्त सत्ता का आभास पाया। इसीलिए संसार को सम्बोधित कर आगे कहा—

"जो तुम देखो सो यहु नांही, यहु पद अगम अगोचर माँही॥
"कहै कबीर जे अम्बर जानै ताही सूं मेरा मन मानैं॥"

अर्थात् जो यह दृश्यमान नाम रूपात्मक संसार है वह वास्तव में यथार्थ नहीं हैं। जिसमें इसकी स्थिति है वह तत्व अवश्य ही अगम और अगोचर है।

कबीर कहते हैं कि मैंने अपने दो दो नेत्रों से इस जगत को देखने की चेष्टा की परन्तु इसमें मुझे हरि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई दिया। मेरे नेत्र उसी के प्रेम में रंग गए हैं अब उसके सिवाय मुझसे और कुछ भी नहीं कहा जाता—

"दुइ दुइ लोचन पेखा। हउ हरि बिनु अउरु न देखा॥
नैन रहे रंगु लाई। अब वेगल कहनु न जाई॥"

उस ब्रह्म रूपी बाजीगर ने डंका बजाकर अपना खेल दिखाया है जिसे देखने सारा संसार एकत्रित हो गया है। फिर वह बाजीगर अपने इस जादू को समेट लेता है और फिर अपने ही रंग में रम जाता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बाजीगर डंक बजाई । सब खलक तमासे आई ।।
बाजीगर स्वाँगु सकेला । अपने रंग रवै अकेला ।।"

इस प्रकार यह सम्पूर्ण सृष्टि उस अलौकिक नटवर की लीला है । उसने यह सारा संसार कहने-सुनने मात्र के ही लिए रचा है । वह इसी में ही छिपा हुआ है मगर उसे कोई पहचान नहीं पाता । उसने त्रिगुण–सत, रज, तम–के योग से इस सृष्टि को रचा है और अपने को अपने में ही गुप्त कर रखा है । वह स्वयं आनन्द स्वरूप है । यह सम्पूर्ण सृष्टि उस आनन्द-तरु के पल्लवरूपी गुणों का विस्तार मात्र है, पंचतत्व उसकी शाखायें हैं और राम नाम उसका सुन्दर फल है—

"कहत सुनन को जिहि जग कीन्हा । जग भुलान सो किनहुँ न चीन्हा ।।
सत रज तम थैं कीन्ही माया । आपण माझैं आप छिपाया ।।
ते तौ आहि अनन्द सरूपा । गुन पल्लव विस्तार अनूपा ।।
साखा तत थैं कुसुम गियानां । फल सो आछा राम का नामां ।।"

अतः वास्तव में ब्रह्म एवं सम्पूर्ण सृष्टि मूलतः एक ही है क्योंकि ब्रह्म में सृष्टि समाहित है सृष्टि में ब्रह्म समाहित है—

"खालिकु खलक, खलक महि खालिकु पूरि रहो सब ठाई ।"

सर्वव्यापी ब्रह्म इस नामरूपात्मक जगत के रूप में अपनी लीला का विस्तार करता है और इच्छा होने पर उसे स्वयं में समेट लेता है—

"इनमैं आप आप सबहिन मैं आप आप सूँ खेलै ।
नाना भांति घड़े सब भाड़े रूप धरे धरि मेलै ।।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर जगत की वास्तविक स्थिति न मानकर उसे असत्य मानते हैं । वे सृष्टि को सर्वत्र नश्वर, मिथ्या एवं स्वप्नवत् कहते हैं—

"समझि विचारि जीव जब देखा, यहु संसार सुपिन कर लेखा ।"

"ज्यों जल बूंद तैसा संसार, उपजत बिनसत लगै न बार ।"

जगत की इसी निस्सारता को देखकर वे उसे सेमर के फूल की तरह भ्रम में डालने वाला और निस्सार मानते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यौ ऐसा संसार है जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के त्यौहार को भूठे रंगि न भूल ।।"

सृष्टि के उत्पत्ति क्रम के विषय में कबीर वेदान्त और सांख्य के साथ ही साथ एकाध स्थल पर सूफ़ी और इस्लामिक धारणा से भी प्रभावित प्रतीत होते हैं। शंकर वेदान्त की तरह उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति आदि शब्द ओंकार से मानी है और ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान कारण और निमित्त दोनों ही है। सांख्यों का कहना है कि जड़ सृष्टि का मूल कारण सत्य त्रिगुणात्मक प्रकृति है। इस प्रकृति के विकास से सृष्टि का विकास होता है। यह सिद्धान्त 'गुण परिणामवाद' कहलाता है। कबीर में भी इसकी झलक है—

"पृथ्वी का गुण पानी सीखा, पानी तेज मिला वाहि।
तेज पवन मिल पवन सबद मिल, सहज समाधि लगावहिगे ।।"

इस तरह कबीर सृष्टि के उत्पत्ति क्रम विकास को सांख्यों के समान त्रिगुणात्मक प्रकृति या माया से मानते तो हैं परन्तु उस प्रकृति को वेदान्त की तरह ब्रह्माश्रित मानकर सांख्यों की तरह अनादि और स्वतंत्र तत्व के रूप में नहीं मानते। इसलिए उन्होंने एक तरह से वेदान्त को ही मान्य माना है।

ज्योति से सृष्टि की उत्पत्ति उपनिषदों के समय से मानी जाती रही है। इसी के आधार पर कबीर ने एक स्थान पर अल्लाह के नूर से सृष्टि की उत्पत्ति बताई है। कुछ आलोचक इसे सूफ़ी प्रभाव कहते हैं। परन्तु वास्तविकता यह हैं कि सूफ़ी मत भी कुछ सीमा तक वेदान्त से प्रभावित रहा है। जब उपनिषदों में ज्योति से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है तो हम इसे सूफियों का मौलिक सिद्धान्त नहीं मान सकते। डा० त्रिगुणायत का कहना है कि सम्भवतः कबीर ने उपनिषदों के विचार को सूफियों तक पहुँचाने के लिए 'नूर' शब्द का व्यवहार किया हो। ऐसा हो सकता है। कबीर तो हिन्दू मुसलमानों से परे थे इसलिए उन्होंने सम्भवतः जनता के एक वर्ग विशेष में प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग उन्हें समझाने के लिए किया हो। वैसे कबीर ने पूर्णतः वेदांत मत का ही अनुसरण किया है। इसका एक और प्रमाण उनके प्रतिबिम्बवाद के अपनाने से मिल जाता है। प्रतिबिम्बवाद भी अद्वैतवाद का ही सिद्धान्त है। इसके अनुसार सृष्टि ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। बिम्ब सत्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

नहीं होता केवल दृष्टि से देखा ही जा सकता है उसी प्रकार यह संसार भी सत्य नहीं है। कबीर कहते हैं—

"खंडित मूल विनास कहौ किम विगतह कीजै।
ज्यूं जल में प्रतिबिम्ब, त्यूं सकल रामहिं जाणीजै॥"

इसके अतिरिक्त कबीर ने वेदान्तियों के एक और सर्वप्रिय सिद्धान्त विवर्तवाद को भी माना है। इस वाद के अनुसार मूल स्वरूप में बिना परिवर्तन हुए ही उसका बाह्य स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। इसकी व्याख्या कनक-कुण्डल न्याय, जलतरंग न्याय आदि से की जाती है। कबीर ने भी इन्हीं उदाहरणों द्वारा विवर्तवाद का समर्थन किया है—

"जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवाँहिगे।
ऐसे हम लोक बेद के बिछुरे, सुन्नहि मांहि समाहिगे॥"

तथा

"जैसे जलहि तरंग तरंगनि ऐसे हम दिखलावहिंगे।"

एक स्थल पर कबीर ने विशिष्टाद्वैतवादियों के 'ब्रह्म परिणामवाद' के अनुसार भी सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। इसके अनुसार "कारणावस्था में ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर उसमें लीन व्यक्तिगत आत्माओं और प्रकृति तत्वों से बना है। कार्यावस्था में जब सृष्टि उत्पन्न होती है, यह शरीर ही विकसित होता है। यद्यपि ब्रह्म सदा अव्यक्त और अव्यय ही बना रहता है। यही 'ब्रह्म परिणामवाद' है।" (डा० त्रिगुणायत) इसके अनुसार संसार की कल्पना एक ऐसे वृक्ष के रूप में की गई है जिसकी जड़ें ऊपर की तरफ हैं और शाखाएं नीचे की ओर हैं, ऐसा यह वृक्ष अनादि और सनातन है। कबीर ने अपनी अन्य उलटवाँसियों के साथ इस विचित्र वृक्ष का ऐसा ही वर्णन किया है—

"तलि करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागै फूल।
कहै कबीर या पद कों बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै॥"

विशिष्टाद्वैतियों के इस 'ब्रह्म परिणामवाद' के एकाध उदाहरणों को छोड़कर कबीर ने सर्वत्र अद्वैतवाद के सिद्धान्तों के अनुरूप ही सृष्टिक्रम विकास का निरूपण किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न १४—कबीर की भक्ति-भावना का विशद् निरूपण कीजिए।

उत्तर—कबीर के अनुसार माया के पाश में पड़े हुए जीव का उद्धार केवल भगवद्भक्ति से ही हो सकता है। भक्ति की सहायता से ही ऋषि, मुनि, दिगम्बर, जोगी और वेदपाठी ब्राह्मणों को पछाड़ने वाली माया 'हरि-भगतिन की चेरी' बन जाती है और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि माया के सहकारियों का नाश हो जाता है—

"राम भजै सो जानिए, जाकै आतुर नाहिं।
सत संतोष लिऐ रहै, धीरज मन माहिं॥
जन को काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुल्लित आनन्द में, गोव्यंद गुण गावै॥"

इस माया से बचने के लिए भक्त को संसार से विमुख होना पड़ता है। साथ ही आत्मा पर पड़े हुए अज्ञान के आवरण को हरि भक्ति द्वारा दूर कर प्रभु के दर्शन करने होते हैं। भक्ति ही एकमात्र माया के पाश से बचने और आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्म से साक्षात्कार करने का उपाय है। इस भक्ति के बिना माया जनित संशय का दुख दूर नहीं हो सकता और न भक्ति के बिना मुक्ति ही मिल सकती है—

"भाव भगति विसवास बिन, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल॥"

इस 'भाव-भगति' के बिना भव-सागर से पार जाना असम्भव है—

"जब लग भाव-भगति नहीं करिहौं, तब लग भव सागर क्यों तरिहौं।"

इसलिए वे इस 'भाव-भगति' को कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ मानते हैं। कर्म द्वारा जीव बन्धन में पड़ जाता है। इसलिए केवल निर्मल मन से भक्ति करने पर ही 'राम' मिल सकते हैं—

"कर्म करत बद्धे अहंमेव, किल पाथर की करही सेब।
कहु कबीर भगति कर पाया, भोले भाय मिले रघुराया॥"

इसी प्रकार भक्ति के बिना योग भी व्यर्थ है—

"हिरदै कपट हरि सूँ नहीं सांचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ॥
झूठै फोकट कत्थू मंझारा, राम कहैं ते दास नियारा॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान भी केवल उसी को प्राप्त हो सकता है जो हृदय और मुख दोनों में राम को रखेगा—

"कहु कबीर जानैगा सोई। हिरदै राम मुख रामै होई ॥"

भक्ति के बिना ज्ञान द्वारा राम की प्राप्ति असम्भव है—

"ब्रह्मै कथि कथि अन्त न पाया। राम भगति बैठे घर आया ॥
कहु कबीर चंचल मति त्यागी। केवल राम भगति निज भागी ॥"

इस प्रकार कबीर भक्ति को ज्ञान, कर्म और योग से श्रेष्ठ मान कर 'हरि-दर्शन' करने का एकमात्र साधन मानते हैं। राम का जप न करने वाले टेढ़े-टेढ़े चलते हैं। उनके अपने किए कुछ भी नहीं हो सकता। बहुत से ज्ञानी राम की भक्ति न करने से डूब गए—

"चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े।
अस्थि चर्म विष्टा के मूंदे दुरगंधहि के वेढ़े ॥
राम न जपहु कौन भ्रम भूले तुमते काल न दूरे।
अनेक जतन कर इह तन राखहु रहै अवस्था पूरे ॥
आपन किया कछू न होवै क्या को करै परानी।
जाति सुभावै सति गुरु भेटै एको नाम बखानी ॥
बलुवा के घरुआ मैं बसते फुलवत देह अयाने।
कहु कबीर जिह राम न चेत्यो बूढ़े बहुत सयाने ॥"

उपर्युक्त पद में कबीर ने एक साथ ही ज्ञान, कर्म और योग का खंडनकर 'भाव भगति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर दी है। इसके अतिरिक्त इसी से सम्बन्धित कुछ पंक्तियां और दृष्टव्य हैं—

"क्या जप क्या तप क्या संजम क्या व्रत क्या अस्नान।
जब लगि जुक्त न जानिए भाव भगति भगवान ॥"
"झूठा जप तप झूठा ज्ञान, राम नाम बिन झूठा ध्यान ॥"

भागवत में वर्णित भक्ति के भेदों में—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, बन्दन, पाद सेवन, अर्चन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन में वैधी भक्ति का भी समावेश है। किन्तु नारद सूत्र में इसके ग्यारह भेद माने गए हैं जो सब भाव भक्ति के हैं। कबीर ने, डा० त्रिगुणायत के अनुसार, नारदी भक्ति को ही माना है। नारद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वैसे भी कबीर भक्त शिरोमणि मानते हैं। किन्तु कबीर की इस भाव-भक्ति की प्रणाली उनसे भिन्न हैं। कबीर की 'भावमगति' की नवधा प्रणाली भी उससे नितान्त विलक्षण है। यहाँ हम पहले इस नवधा भक्ति के इसी विलक्षण स्वरूप को देखेंगे—

श्रवण—यहां श्रवण की यह विशेषता है कि 'सवद' के सुनते ही प्राण निकलने सा लगता है, शरीर की चेतना विस्मृत हो जाती है—

"सती पुकारे सति चढ़ी, सुनि रे मीत मसाँन।
लोग बटाऊ चलि गए, हम तुम्भ रहे निदाँन।।"

कीर्त्तन—इसमें रामगुण का स्मरण कर ज्यों-ज्यों गाने की चेष्टा की जाती है त्यों-त्यों एक तीर सा लगता प्रतीत होता है—

"ज्यूं ज्यूं हरि गुण सांभलूं, त्यूं त्यूं लागै तीर।"

स्मरण—इसमें मन राम का स्मरण करता है और वहीं हो भी जाता है—

"मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।"

बन्दन—जब मन राम का ही होगया तो शीश किसे नवाऊँ—

"अब मन रामहिं ह्वै रह्या, शीश नवावौं काहि।।"

पाद-सेवन—इसमें 'चरण कँवल मनमानियाँ' की स्थिति आ जाती है और हम अपने सारे दुखों को भूल कर ऐसी सेवा करने लगते हैं जिसके बिना क्षण भर भी जीना दुष्कर है—

"मन के मोहन बीठुला, यहु मन लागौ तोहिरे।
चरन कँवल मन मानियाँ, और न भावै मोहि रे।।"

अर्चना—में "मांहैं पाती मांहिं जल, माहैं पूजणहार" की विचित्र स्थिति रहती है और "साँच सील का चौका" देकर आरती करने के लिए हमें अपने प्राणों को भी उस तेजपुंज को समर्पित कर देना पड़ता है।

दास्य—इसमें भक्त भगवान का पूरा दास बन जाता है—

"गले राम की जेवड़ी जित खेंचै तित जाउँ।

तथा

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुसांईं,
तन, मन, धन मेरा रामजी कै ताईं।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोई गाहक सोई बेंचनहारा ॥
बेचे राम तौ राखै कौन,
राखे राम तो बेचे कौन ॥
कहै कबीर मैं तन मन जारया,
साहिब अपना छिन न बिसारया ॥"

सख्य—में भी इसी तरह भगवान दोषों की उपेक्षा कर अङ्क में बाँध लेते हैं—

"देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का खेल।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥"

तथा

"अंक भरे भरि भेटिया, मन में नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लग दोइ सरीर ॥"

आत्म-निवेदन—इस दशा में अभेद भाव की स्थिति बनी रहने के कारण सुधबुध भूल जाती है और ऐसी स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है कि—

"भली भई जु भै पड़या, गई दसा सब भूलि।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूल ॥"

बूंद समुद्र में विलीन हो जाती है और फिर न उसका और न उसके ढूंढ़ने वाले का ही पता लगता है और अन्त में मन ही मन यही कहना पड़ता है—

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै है मोर ॥"

डा० त्रिगुणायत ने नारद-सूक्ति में वर्णित ग्यारह आसक्तियों के उदाहरण भी कबीर में ढूंढ़ निकाले हैं और उनका उदाहरणों सहित निम्नलिखित वर्णन किया है—

१—गुणमहात्म्यासक्ति—

"निरमल निरमल राम गुण गावै सो भगता मेरे मन भावै।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२—रूपासक्ति—

"कन्द्रप कोटि जाकै लावन धरै, घट घट भीतर मनसा हरैं।"

३—पूजासक्ति—"जो पूजा हरि नहिं भावै सो पूजन हार चढ़ावैं।
जेहि पूजा हरि मन भावै सो पूजनहार न जानै।"

४—स्मरणासक्ति—"भगति भजन हरि नाँव है, पूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा कर्मणा, कबीर सुमिरण सार।"

५—दास्यासक्ति—

"जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा, सो सुख राज न लहियै।"

६—सख्यासक्ति—

इसका उदाहरण पीछे नवधा भक्ति के 'सख्य' में देखा जा सकता है।

७—कान्तासक्ति—

"हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।"

८—वात्सल्यासक्ति—

"हरि जननी मैं बालक तोरा "तथा" बाप राम सुन विनती मोरी।"

९—तन्मयासक्ति—

"कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहि बुलाबौ कै तुम्हि चलि आबौ।"

१०—परम विरहासक्ति—

"बाल्हा आव हमारे गेहरे, तुम बिन दुखिया देहरे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको इहै अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवैं, तब लग कैसा नेह रे॥"

११—आत्मनिवेदनासक्ति—

"माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहीं साधी।
कारन कवन आई जग जनम्यो।
जनमि कबन सचुपायो।"

उपर्युक्त सम्पूर्ण उद्धरणों से प्रकट होता है कि कबीर की यह भक्ति-साधना शुद्ध अद्वैतवादी है और उनकी दृष्टि में प्रेम जैसी द्वैतपरक भावनाओं का कोई महत्व नहीं है। परन्तु उस समय आश्चर्य होता है जब हम कबीर को 'प्रेम भगति' में मग्न देखते हैं तो उन्हें विशुद्ध प्रेमी मानना पड़ता है। प्रेम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इस प्रभाव को कुछ आलोचक सूफी-प्रेम-पद्धति का प्रभाव मानते हैं परन्तु डा० त्रिगुणायत का मत है कि कबीर ने नारदी-भक्ति को ही अपनी भक्ति का मूलाधार माना है। नारद ने "सात्वस्मिन परम प्रेम रूपा" कहकर ब्रह्म को प्रेम-विशिष्ट घोषित किया है। परन्तु कबीर-साहित्य में 'प्रेम पियाला' आदि के वर्णन को देखकर उस पर सूफी-प्रेम-पद्धति का भी प्रभाव सिद्ध हो जाता है। कबीर की भक्ति का यह प्रेममय स्वरूप देखकर उन्हें अद्वैतवादी न मानकर द्वैतवादी मानना पड़ता है।

कबीर ने अनेक स्थलों पर अपने को 'दुलहिन' एवं 'राम की बहुरिया' कहा है। दुलहिन बनकर वे अपने 'राजाराम भरतार' से मिलन की उमंग में 'जोबन मदमाती' बन जाते हैं। इसी प्रकार उन्होंने अपने 'पीव' से मिलन न हो सकने पर मार्मिक विरह की व्यंजना की है। ऐसे स्थलों पर उनका स्वर शुद्ध सूफी भक्त का सा स्वर बन जाता है। यद्यपि नारदी-भक्ति में भी विरह को प्रमुखता दी गई है परन्तु कबीर सूफियों के समान ही विरह को गुरु की देन मानते हैं—

"गुरु दाधा चेला जल्या बिरहा लागी आगि।"

विरह का बाण लगते ही साधक प्रियतम से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठता है। प्रियतम से साक्षात्कार के लिए वे भक्त के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह विषयत्याग, कुसंग त्याग कर अखंड भजन, गुण कीर्तनादि तथा ईश्वर और महात्माओं की कृपा और पूर्व जन्म के संस्कारों की सहायता से भगवद्भक्ति प्राप्त करे। और ये सब प्रयत्न तब तक नितान्त असम्भव हैं जब तक कि गुरु हरि की भक्ति का ज्ञान न दे—

"ज्ञान भगति गुरु दीनी।"

परन्तु इस भक्ति में सबसे बड़ी बाधा तब पड़ती है जब माया का प्रपंच जाल और मन की चंचलता साधक को विचलित करती रहती है। ब्रह्म के ज्ञान से माया विघ्नकारक के स्थान पर वशवर्त्तिनी बन जानी है तथा मन की चंचलता को 'सुरति शब्द योग' द्वारा वश में करना पड़ता है। मन ऐसा दुष्ट है कि विषय विकार की हवा लगने पर मरा हुआ भी जी उठता है। उसकी दशा उस मछली के समान है जिसे काटकूट कर छींके पर रख दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय परन्तु फिर भी वह किसी कारण वश दह में गिर पड़ती है—

"मृतक कूं धी जौं नहीं, मेरा मन बी है।
बाजै वात्र विकार की, भी मूवा जीवै ॥"
"काटी कूटी माछली, छीकैं धरी चहोड़ि।
कोई एक अषिर मन वस्या, दह में पड़ी बहोड़ि ॥"

इसलिए जब मन को 'सुरतियोग द्वारा' अनहद नाद से सम्बन्धित कर दिया जाता है तब वह उस ब्रह्म के रंग में रंगकर तद्रूप हो जाता है।

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं—

"निराकार निज रूप है प्रेम प्रीत से सेव।"

परन्तु निराकार का केवल ध्यान ही किया जा सकता है, न तो उससे प्रेम प्रीत की जा सकती है और न उसकी सेवा ही की जा सकती है। इसलिए कबीर को भी विवश होकर ब्रह्म के व्यक्त या सगुण रूप को अपनाना पड़ा है। यह काम अकेले कबीर ने ही नहीं किया बल्कि रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य एवं मध्वाचार्य जैसे वैष्णव आचार्यों को भी सिद्धान्त रूप में निराकार की स्थापना कर व्यवहार के लिए सगुण भगवान की भक्ति का ध्येय सम्मुख रखना पड़ा था। इसी कारण कबीर ने अनेक स्थलों पर इसी सगुण ब्रह्म की भक्ति, सेवा, उपासना की चर्चा कर कहीं-कहीं अवतारों का भी उल्लेख किया है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"भजि नारदादि सुकादि वंदित चरन पंकज भामिनी।"
"जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा सो सुख राज न लहिए।"
"ओहि पुरुष देवाधिदेव भगति हेत नरसिंह भेष।" आदि।

भक्ति के क्षेत्र में कबीर की यह कठिनाई नवीन नहीं है। निर्गुण ब्रह्म की उपासना को गीता में भी अत्यन्त कष्टकर बताया गया है—"अव्यक्त में चित्त की एकाग्रता करने वाले को बहुत कष्ट होते हैं क्योंकि इस अव्यक्त की गति देहेन्द्रियधारी मनुष्य के लिए कठिन है।"

धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में युगों से चली आती हुई वर्ण-व्यवस्था का भक्ति के क्षेत्र में स्वामी रामानन्द द्वारा उन्मूलन किया जा चुका था। कबीर ने भी रामानन्द की ही तरह जाति को उपासना तथा सामाजिक क्षेत्र में कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी महत्व नहीं दिया है—

"कबीर को स्वामी अनद विनोदी जाति न काहू की मानी।"

भक्ति के क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था की इस अमान्यता के प्रवर्त्तक स्वामी रामानुजाचार्य थे। उनका यह मत 'प्रपत्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रपत्ति का अर्थ है आत्मनिवेदन। इसमें भक्त सारे धर्म एवं साधनों को छोड़कर भगवान का शरणागत होता है। कबीर उन्हीं की शिष्य परम्परा में थे अतः उनमें भी इसके दर्शन होते हैं—

"जन कबीर तेरी सरन आयो राखि लेहु भगवान।"

शरणागत की यह भावना कबीर में पूर्णता के साथ मिलती है। कहीं वे अपने को राम का गुलाम कहते हैं, कही स्वयं को राम के चरणों की धूलि कहते हैं, कहीं स्वयं को घोर पापी और राम को दाता कहते हैं। कबीर के आत्म निवेदन में तुलसी एवं सूर की सी गहरी अनन्यता, तीव्रता एवं पीड़ा है—

"माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहिं साधी।
कारन कवन आइ जग जन्मा, जनमि कवन तनु पाया।।"

वे माया के इस बन्धन से मुक्त होने के लिए माधव से दया करने की प्रार्थना करते हैं—

"माधौ कब करिहौ दाया, काम, क्रोध, अहंकार व्यापै ना छूटै माया।"

कबीर की उपर्युक्त उक्तियों एवं भक्ति-साधना को देखकर आश्चर्य होता है कि वे भक्ति के इन विभिन्न स्वरूपों का इतना सफल चित्रण करने में कैसे सफल हो सके। अनेक स्थलों पर उनकी भावना, अभिव्यक्ति का प्रकार, शब्दावली एवं भक्ति की गहन तन्मयता देखकर यह भ्रम होने लगता है कि हम तुलसी और सूर के पद पढ़ रहे हैं। इतने पर भी आलोचक गण कबीर को बिना पढ़ा लिखा, काव्य शक्ति से शून्य और केवल सुनी सुनाई बातें कहने वाला कहते हैं। क्या केवल सुनकर ही भक्ति के उपरोक्त विभिन्न प्रकारों का चित्रण सम्भव था? यह प्रश्न विद्वानों के लिए विचारणीय है।

यहाँ तक हम कबीर की भक्ति के विश्लेषण द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कबीर की भक्ति शुद्ध अद्वैतवादी एवं वैष्णवों की भक्ति है। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर के अनेक पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें योग और भक्ति का विचित्र सम्मिश्रण कर दिया गया है। डा० त्रिगुणायत इस मिश्रण का कारण यह मानते हैं कि कबीर ने योग के "सुनि मंडल वासा" पुरुष को अपना उपास्य माना है परन्तु यह मिश्रण साधना की अवस्था तक ही रहता है। अपनी अन्तिम व्यवस्था में वे पूर्ण रूप से सहज या प्रेम भोगी ही रह जाते हैं। वहाँ यह मिश्रण नहीं है। कबीर जानते थे कि हठयोग की साधना बड़ी कठिन है इसीलिए उन्होंने अपनी भक्ति को 'कठिन दुहेली' और 'खांडे की धार' कहा है। इसके लिए उन्होंने 'सहजशील' के अभ्यास की साधना को सर्वोत्कृष्ट माना है। उन्होंने एक स्थान पर कहा भी है कि 'सहजशील' के अभ्यास में ही मेरे मत का सार आ जाता है। इसके लिए साधक को 'सती, सन्तोषी, सावधान, सबद भेदी तथा सुविचारवान होने की आवश्यकता होती है जो सद्गुरु के प्रसाद अथवा कृपा पर निर्भर है। इनके लिए कबीर की यह साखी दृष्टव्य है—

"सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार।
सतगुर के प्रसाद थैं, सहज शील मत सार॥"

इस सहजशील का अभ्यास निरन्तर होता रहना चाहिए। इसकी पूर्णता पर साधक को उस सहजावस्था की उपलब्धि हो जाती हैं जिसमें— "अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पूर्णतः अपने कहने में आ जाती हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमें स्वयं परमात्मा का ही स्पर्श अथवा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।" उस समय साधक संसार मात्र के साथ आत्मीयता का बोध करने लगता है। अस्तु,

भक्ति के साधनों में कबीर मानव-शरीर, गुरु सेवा, भगवद्कृपा, नाम, जप, स्मरण, कीर्तनादि तथा सत्संगति आदि सबको महत्व देते हैं। इनके उदाहरण पीछे दिए जा चुके हैं।

कबीर की भक्ति की विवेचना कर डा० श्यामसुन्दरदास इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "यह कहना अधिक उचित होगा कि ज्ञानियों की ब्रह्म-जिज्ञासा और वैष्णवों की सगुण भक्ति की विशेष विशेष बातों को लेकर कबीर ने अपनी निर्गुण भक्ति का भवन खड़ा किया अथवा वैष्णवों के तात्विक सिद्धांतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यावहारिक भक्ति के मिश्रण से कबीर की भक्ति का उद्भव हुआ है। सिद्धान्त और व्यवहार में कथनी और करनी में भेद रखना कबीर के स्वभाव के प्रतिकूल है।"

संक्षेप में कबीर की भाव-भगति की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

१—नारदीय भक्ति (प्रेम मूला भाव प्रधान) का कबीर की 'भाव-भगति' पर गहरा प्रभाव है।

२—सूफियों के प्रेम तत्व के सम्मिश्रण से यह अत्यन्त मधुर होगई है। उस पर हठयोग की भी छाया है और वह भागवत की निर्गुण भक्ति से भिन्न नहीं हैं।

३—कबीर का उपास्य निर्गुण है परन्तु उसका स्वरूप साकार होगया है।

४—कहीं-कहीं कबीर ने अवतारों का भी श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया है।

५—भक्ति के क्षेत्र में वे जाति भेद को स्वीकार नहीं करते।

६—उनकी भक्ति निष्काम है। काम सहित भक्ति बाधक होती है।

७—वह नारदी होकर भी सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक है। अत्यन्त सहज और सरल होते हुए भी 'खाँढ़े की धार' के समान कठिन है।

८—बाह्य विधि-विधानों का उसमें कोई स्थान नहीं हैं।

९—इसमें सदाचरण, सत्याचरण, सहजाचरण, सहजोपासना, मन-साधना, मानसिक पूजा, मानसिक जप तथा सत्संगति को विशेष महत्व दिया गया है।

१०—भक्ति की पूर्णता के लिए वे भक्त के आत्म निवेदन एवं भगवान के अनुग्रह को ही सब कुछ मानते हैं।

प्रश्न १५—कबीर की योग-साधना पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—कबीर-साहित्य में नामस्मरण एवं सुरति शब्द योग के साथ ही साथ कुंडलिनी योग अथवा लय योग की चर्चा भी अनेक स्थलों में पाई जाती है। ये हठयोग की क्रियायें हैं। नाथपंथ की साधना पद्धति का नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हठयोग है । कबीर की योग-साधना को समझने के लिए पहले हठयोग को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है ।

हटयोग के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार 'ह' का अर्थ चन्द्र और 'ठ' का अर्थ सूर्य है । सूर्य और चन्द्र से क्रमशः दक्षिण स्वर और वाम स्वर का भी प्रतीकात्मक अर्थ लिया जाता है । इन्हीं दोनों की समता को हठयोग कहते हैं । हठयोगियों का विचार है कि हमारा स्थूल शरीर हमारे सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करता रहता है । इसलिए स्थूल शरीर का इस योग साधना द्वारा परिष्कार कर सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करना चाहिए । स्थूल शरीर के इस परिष्कार के लिए विविध साधनाओं की सहायता लेकर सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति का निरोध करना पड़ता है । इसके लिए हठयोगियों ने महाकुंडलिनी नामक एक शक्ति की कल्पना की है । यौगिक क्रियाओं द्वारा सुप्तावस्था में रहने वाली इस कुंडलिनी को जागृत कर ऊर्ध्व-मुखी किया जाता है । कुंडलिनी को समझने के लिए हठयोग में कल्पित शरीर की उस बनावट को समझ लेना आवश्यक है जिसमें अनेक कमल, चक्र आदि स्थिति हैं ।

हठयोग के अनुसार हमारी पीठ में स्थित मेरुदण्ड जहां सीधा जाकर वायु और उपस्थ के मध्य भाग में लगता है वहाँ एक स्वयम्भू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में स्थिति है । इसी त्रिकोण में स्थिति इस स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन वृत्तों में लपेटे हुए सर्पिणी की भांति कुंडलिनी है । इसके ऊपर "मूला-धार" चक्र है जिसमें चार दलों का कमल है । इसके ऊपर छः दलों के कमल आकार वाला 'स्वाधिष्ठान' चक्र है । इसके ऊपर दस दलों वाला 'मणिपूर' चक्र तथा उसके भी ऊपर बारह दलों वाला 'अनाहत' चक्र स्थित है । इसके ऊपर सोलह दल वाला 'विशुद्धाख्य' चक्र आता है और इसके ऊपर भ्रूमध्य में सिर्फ दो ही दलों वाला 'आज्ञा चक्र' है । इन सबसे ऊपर मस्तिष्क में शून्य चक्र की स्थिति मानी गई है जहां जीवात्मा को पहुंचा देना योगी का चरम लक्ष्य है । इस कमल में सहस्र दल होते हैं इसलिए इसे सहस्रार भी कहा जाता है । यही 'गगन मण्डल' है और इसी को 'कैलाश' भी कहते हैं । योगियों का मत है कि यदि प्राणवायु को उलट कर प्राणायाम करें तो उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गर्मी से सुप्तावस्था में स्थित कुंडलिनी जागृत होकर मेरुदण्ड के भीतर वाले छः चक्रों को क्रमशः भेदती हुई ऊपर बढ़ने लगती है और सहस्त्रार चक्र में पहुँच कर लीन हो जाती है। कुंडलिनी के इस प्रकार ऊपर चढ़ने से हमारे मन की सम्पूर्ण बिखरी हुई वृत्तियाँ सिमटने लगती हैं और अन्तर्मुखी होने लगती हैं। इससे मन स्वयं ही स्थिर हो जाता है। इस क्रिया द्वारा हमारी शक्तियों का पूर्ण केन्द्रीकरण हो जाता है और हमें एक ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार मन हमारे वश में होकर हमारा मित्र हो जाता है और कबीर के शब्दों में वही 'गोरख', 'गोविन्द', तथा 'करता' तक बन जाता है—

"मन गोरख मन गोबिन्दौ, मन ही औघड़ होई।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ॥"

कहा जाता है कि सन्तों ने उक्त सहस्त्रार कमल के ऊपर एक अष्टम चक्र-सुरतिकमल की और कल्पना की है। सन्तों के कथनानुसार उक्त सहस्रार तक पहुंचे हुए योगी का चित्र व्युत्थान काल अर्थात् समाधि टूटने पर पुनः वासना के चक्कर में फंस जाता है परन्तु जब योगी का चित्त सुरतिकमल तक पहुंच जाता है तब योगी के लिए ऐसा कोई खतरा नहीं रहता।

कुंडलिनी को एक ऐसी शक्ति माना जाता है जिसके इड़ा और पिंगला नामक दो कुण्डल होते हैं। ये दोनों नाड़ियाँ हैं। इनके बीच में सुषुम्ना नामक नाड़ी रहती है। सुषुम्ना में भी कई और नाड़ियां होती हैं जिनमें चित्रणी और ब्रह्मा प्रमुख हैं। इस तरह नाड़ियों की संख्या पांच हो जाती है। साधक अनेक क्रियाओं द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत करता है। कुंडलिनी के जाग्रत होने पर जो स्फोट होता हैं उसी को नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है। प्रकाश का व्यक्त रूप महाविन्दु हैं जिसके तीन रूप हैं—इच्छा, ज्ञान, क्रिया। प्रतीकात्मक भाषा में इन्हीं को सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेष भी कहते हैं। यही नाद ओंकार हैं। उसी को शब्द ब्रह्म कहते हैं। अस्तु,

हठयोग कई प्रकार का माना जाता हैं। प्राचीन हठयोग में योग सूत्रों में वर्णित अष्टांगों के प्रथम पाँच अंग आते हैं। नवीन हठयोग विविध रूपी है जिनमें से मुद्राआसन, कुंडलिनी उत्थापन, नाड़ी शोधन तथा स्वर-शोधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि की गणना की जाती हैं। कबीर साहित्य का अध्ययन करने से यह प्रकट होता है कि उन्होंने योग की प्रचलित समस्त साधनाओं की परीक्षा कर अन्त में अपना "स्वानुभूति मूलक सहज योग" प्रतिपादित किया था जिसका पर्यवसान, डा० त्रिगुणायत के शब्दों में, 'प्रपत्ति मूलक भक्तियोग' में हुआ था। इस प्रकार हम कबीर की योग साधना को दो कालों में बांट सकते हैं—

१—उनके योग के सच्चे स्वरूप की खोज में किए गए परीक्षण और प्रयोग।

२—उनके योग का अन्तिम स्वीकृत स्वरूप।

जब किसी वस्तु का पहले परीक्षण और प्रयोग किया जाता है तो उसमें स्वाभाविक रूप से अस्पष्टता, क्रमहीनता एवं विशृंखला आ जाती है। कबीर ने भी भिन्न-भिन्न योग पद्धतियों के परीक्षण किए थे। जब उन्हें एक परीक्षण से सन्तोष नहीं मिला तो दूसरी को अपनाया, फिर तीसरी को। व्यक्ति की एक और कमजोरी होती है कि वह प्रथम ऊपर से भव्य महान और कठिन दिखाई पड़ने वाली वस्तु के प्रति आकर्षित होता है परन्तु जब आगे चलकर उसे उसके आन्तरिक थोथेपन का ज्ञान हो जाता है तो उसे छोड़ देता है। कबीर की प्रारम्भिक योगसाधना में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। पहले उन्होंने हठयोग के जटिलतम स्वरूप को अपनाया था। इस स्वरूप को अपनाने में कबीर की स्वाभाविक प्रवृत्ति—अनेकता से एकता, जटिल से सरल की तरफ जाना–कार्य कर रही थी।

कबीर के प्रारम्भिक योग की क्रियाओं में पूरक, रेचक, कुम्भक, धोती, नेती, वस्ति, वायु संचालन, कुंडलिनी उत्थापन आदि का वर्णन मिलता है। साथ ही १० दरवाजे, ५२ कोठरी, १४ चन्दा, ६४ दिया, द्वादश कोश, ७२ नाड़ियाँ आदि की भी चर्चा चलती रहती है। इसके अतिरिक्त पंचप्राण, सोलह आधार, इक्कीस नाड़ियाँ, ७२ कोठे आदि का भी संकेत मिलता है। सोलह आधार, द्वादश कोश और ७२ कोठे के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"भवरु एकु पुहुप रस बीधा बारह ले उरधरिया।
सोरह मधे पवन झकोरिया आकासे फरु फरिआ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बहुआ एक बहत्तर आधारी एको जिसहि दुबारा।
नवें खंड की प्रथमी मांगै सो जोगी जगसारा।।"

कबीर के उपर्युक्त वर्णन सिद्धों और नाथ पंथियों में प्रचलित क्रियाओं और शब्दों के सुने सुनाए आधार पर वर्णित हैं। इसीलिए इनमें विस्तृत वर्णन की प्रधानता है। परन्तु जब कबीर ने इस स्थिति की निस्सारता को समझ लिया तो वे योग के अपेक्षाकृत सरल मार्ग की तरफ झुके।

साधना की इस दूसरी अवस्था में इसी कारण अपेक्षाकृत जटिलता कम और सरलता अधिक है। इसके वर्णन तंत्र ग्रन्थों एवं नाथ पंथियों के प्रसिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर किए गए हैं। यहाँ आकर सम्भवतः उन्हें योग का रहस्य ज्ञात हो गया है और उनकी साधना परिपक्वता को प्राप्त होती चली जा रही है। तभी वे इस अवस्था में आकर षटचक्र-भेदन, त्रिवेणी स्नान, और ब्रह्म रंध्र के अमृत पान की बातें करने लगे हैं। निम्नलिखित पद उदाहरण के लिए द्रष्टव्य है जिसका उल्लेख डा० त्रिगुणायत ने किया है—

"कदली कुसुम दल भीतरा, तह छः अंगुल का बीच रे।
तहाँ दुआ दस खोजिले, जनम होत नहिं नीच रे।
बंक नालि के अंकरे, पछिम दिसा की बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भंवर गुफा के घाट रे।
त्रिवेणी में नाइये, सुरति मिलै जो हाथ रे।"

इसके साथ ही वे प्राणायाम द्वारा मन के मैल को दूर करने का भी उपदेश देते हैं—

"आसन पवन दृढ़ तनु रे, मन को मैल छांड़िदै वीरे।"

हठयोग की तृतीय अवस्था में आकर कबीर ने हठयोग का रूप अत्यन्त सरल कर उसके साथ प्रेम का सम्मिश्रण कर दिया है। इस अवस्था में आकर वे 'राम रसायन' पीकर मतवाले हो गए थे तथा उन्हें षट्चक्र भेदन आदि की आडम्बरपूर्ण साधनाओं से विरक्ति हो चली थी। उनकी आत्मा 'प्रेम भगति' के हिंडोले में झूलती हुई 'सहज शून्य' के नेह में वास करने लगी थी—

"हिंडोलना तह झूलै आतम राम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेम भगति हिंडोलना सब सन्तन को बिसराम,
चन्द सूर दुई खंभवा बंक नालि की डोरि।
झूले पंच पियारियां तह झूलै जीय मोर।।
द्वादस गम के अन्तरा तहं अमृत को वास।
जिन यह अमृत चाखिया सो ठाकुर हम दास।।
सहज सुनि को नेहरी गगन मंडल सिर मोर।
दोऊ कुल हम आग री जो हम झूलै हिंडोल।।"

प्रेम और योग के सहयोग से वे 'रामरसायन' की उत्पत्ति कर उसी के पान करने में निमग्न हो गए—

"दास कबीर यही रसमाता कबहुँ उद्‌दकिन जाई।"

इस राम रसायन का पान वही कर सकता है जो पूर्ण योगी हो—

"कोई पीवे रस राम नाम का जो पीवे सो जोगी रे।"

इस अवस्था में आकर आसन, प्राणायाम आदि से उन्हें विरक्ति हो चली थी—

"आसन पवन दूरि करि बवरे। छोड़ि कपट नित हरि भज बवरे।।"

इस अवस्था के उपरान्त कबीर 'लय योग' की तरफ झुकते हैं। यह 'शब्द सुरति योग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें 'शब्द ब्रह्म' की उपासना है। कबीर 'शब्द ब्रह्म' के पूर्ण उपासक थे। उनका राम नाम भी कहीं-कहीं शब्द ब्रह्म का ही रूप धारण कर लेता है। इसी शब्द ब्रह्म में लीन होना उनकी साधना का अन्तिम लक्ष्य है। राम निरंजन शब्द रूप है—

"शब्द निरंजन राम नाम सांचा।"

कबीर के 'अनहद नाद' एवं 'नाद विन्दु' की साधना का सम्बन्ध शब्द ब्रह्म से ही है—

"ऐसा ध्यान धरौ नरहरी, सबद अनाहद च्यंतन करी।"

इसी शब्द ब्रह्म को मूल मानने के कारण ही उन्होंने 'ओंकार' को सृष्टि का मूल कारण माना है—

"ओंकार आदि है मूला।"

कबीर का यह 'शब्द सुरति योग' इसी 'शब्द ब्रह्म' के प्रति उनकी पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्था का प्रतीक है। कबीर द्वारा प्रयुक्त 'सुरति' शब्द के विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए हैं। डा० त्रिगुणायत 'सुरति' के भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा अनुमानित किए गए भिन्न-भिन्न अर्थों की विवेचना कर तथा उन्हें पूर्ण रूपेण संगत न मानकर इसका अर्थ 'बहिर्मुखी आत्मा' मानते हैं। "क्योंकि अपने शब्द सुरति योग' में कबीर ने बहिर्मुखी आत्मा को शून्य रूपी शब्द में लीन करने का उपदेश दिया है।" अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि—"शब्द सुरति योग' का अर्थ आत्मा को साधना के सहारे ब्रह्म में लीन करने की प्रक्रिया है।" दूसरे शब्दों में सुरति का सीधा सादा अर्थ 'संसार में पूर्णतया रत आत्मा' से किया जा सकता है। आत्मा के इस 'सुरति' रूप के विपरीत 'निरति' रूप होता है जिसमें आत्मा की संसार में रति नहीं रहती—

"सुरति समानी निरति में निरति भई निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यंभ दुवार॥"

अर्थात् सुरति साधना करके निरति में समा जाती है। निरति नित्य ब्रह्म स्वरूप होने के कारण निराधार रहती है। इस प्रकार सुरति-निरति का योग हो जाने से स्यंभु (कल्याण और आनन्द) के द्वार उन्मुक्त हो जाते हैं।

कबीर के कुछ ग्रन्थों में सात सुरतियों की चर्चा मिलती है। हमारे वैदिक साहित्य में भी सप्तऋषियों द्वारा शरीर की रक्षा होने की बात कही गई है। ये सप्त ऋषि वास्तव में सप्त प्राणों के ही प्रतीक हैं। डा० त्रिगुणायत इस शब्द ब्रह्म की साधना को पूर्ण रूप से भारतीय उपनिषदों की परम्परा में ही मानते हैं। कबीर ने उसी का अनुकरण किया है।

कबीर के इस 'शब्द सुरति योग' की साधना भी जटिल से सरल होती चली गई है। आरम्भ में उन्होंने मन-साधना द्वारा सुरति को त्रिकुटी में केन्द्रित करने का उपदेश दिया है—

"द्वादस दल अभि-अन्तरि म्यंत, तहां प्रभु पाइसि करिलै च्यंत।"

इससे आगे की स्थिति में आकर वे हठयोग के समान पुनः आसन और प्राणायाम करने का, और मन को त्रिकुटी में केन्द्रित करने का आदेश देते हैं—

"उल्टे पवन घट चक्र वेधा, सुनि सुरति लै लागी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन का त्रिकुटी में केन्द्रीकरण करने, अजपा जाप करने तथा बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने की बात कहते हैं—

"उल्टी चाल मिलै परब्रह्म; सो सद्गुरु हमारा।"

इस उल्टी चाल द्वारा ही 'सुरति' शून्य में लीन हो जाती है। इसके लिए कबीर ज्ञान की महत्ता का बखान कर उसे श्रेष्ठता प्रदान करते हैं—

"मन करि बैल सुरति कर पैडा,
ज्ञान गोनि भरि डारी।
कहत कबीर सुनहु रे सन्तहु,
निबही खेप कुमारी ॥"

कबीर पंथी इसी 'शब्द सुरति योग' को कबीर की योग साधना की चरम परिणति मानते हैं मगर डा० त्रिगुणायत 'सहजयोग' को कबीर की योग साधना की अन्तिम अवस्था मान कर अन्त में भक्तियोग में उसका पर्यवसान मानते हैं। कबीर के शब्दों में—

"सहजैं होय सो होय रे"

अर्थात् सहज योग वह साधना है जो सहज ही में हो जाय। इस स्थिति में आकर कबीर—

"सहजैं रहै समाय न कहूँ आवे न जाय।"

हो जाते हैं और सहजयोग का यही मूल सिद्धान्त है। इसमें भी उन्होंने शब्द ब्रह्म की ही साधना की है। उनका 'सहजशून्य' शब्द ब्रह्म ही है। इसी सहज में मन का लय करना सहजयोग है। इसमें मन उन्मनावस्था में आकर समाधि में लीन हो जाता है और त्रिकालज्ञ बन जाता है—

"इहु मन ले जो उनमनि रहै। तौ तीन लोक की बात कहै।

कबीर के शब्दों में सहजयोगी का स्वरूप निम्नलिखित है—

"अबधू जोगी जग ते न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति कर सिंगी, नाद न खंडै धारा ॥
बसे गगन में दुनी न देखें, चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा ॥
परगट कंथा मांहि, जोगी, दिल मैं दरपन जोवै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहस इकीस छः से धागा निहचल नीके पोवै ।।
ब्रह्म अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै ।।"

ऐसा योगीश्वर सम्पूर्ण बाह्य साधनाओं को छोड़ कर केवल मन की साधना में रत रहता है। इन्द्रिय-निग्रह द्वारा वह मन की चंचलता को नष्ट कर देता है। जब वह ऐसा कर लेता है तभी राम की भक्ति करने के योग्य हो सकता है। इसी अवस्था में आकर कबीर की योग-साधना में भक्ति और योग का अपूर्व सम्मिश्रण हो जाता है और वे 'पूरे सो परिचय' प्राप्त कर सिद्धावस्था को पहुंच जाते हैं—

"थिति पाई मन थिर भया सतगुर करी सहाय ।
अनित कथा तिन आचरी हिरदे त्रिभुवन राय ।।"

———

प्रश्न १६—रहस्यवाद की संक्षिप्त विवेचना करते हुए कबीर के रहस्यवाद पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—रहस्यवाद—

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता,
सब करते स्वीकार यहां ।
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ।" —प्रसाद

इस चराचर विश्व का नियमन करने वाली उस 'अज्ञात' 'अव्यक्त' सत्ता की खोज मानव-मन चिरकाल से करता चला आया है। उसे उस अज्ञात सत्ता का आभास तो हुआ परन्तु वह निश्चित रूप से यह नहीं जान सका कि वह है कौन ? उसका स्वरूप क्या है ? वह उसके रहस्य को समझने में अब तक सर्वथा असमर्थ रहा है। अपने इस अज्ञान से संकुचित और उस सत्ता के आभास से आश्चर्य विजड़ित होकर वह जिज्ञासा के स्वर में पुकार उठा है—

"हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भार विचार न सह सकता ।" ——प्रसाद

मानव ने सृष्टि के आदि से अब तक जिस वस्तु की आकांक्षा की है उसे प्राप्त करके रहा है परन्तु उसकी शक्ति 'ब्रह्म' के समीप आकर कुण्ठित हो उठी है——

"पाना अलभ्य जग की यह कैसी अभिलाषा ।
है ब्रह्म अप्राप्य इसी से सब करते उसकी आशा ।।"

इसी अप्राप्य ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए मानव-हृदय और मानव-मन ने निरन्तर जो प्रयत्न किए हैं वह रहस्यवाद की परिभाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं । आदि काल से 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति बिन' वाले रूप को मानव सदैव से 'रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति सह' बनाकर उसे समझने और प्राप्त करने का प्रयत्न करता आया है । अग्नि-विद्या, मधु-विद्या, सामोपासना, प्राणोपासना आदि के द्वारा उस अतीन्द्रिय ग्राह्य को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की चेष्टा मानव के जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा रही है । इस प्रकार ब्रह्म की निराकारिता को खण्डित किए बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य भावना की मूल है ।

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर प्राणी उससे तादात्म्य स्थापित कर एकाकार हो जाना चाहता है । इसके लिए वह साधना के दो रूप अपनाता है, एक अपने भीतर और दूसरा अपने बाहर । अपने को पूर्ण बनाना और पूर्ण में अपने को मिला देना—जैसा कि हम पिछले प्रश्न में देख आए हैं—परिणाम में एक ही होने पर भी व्यापार में भिन्न हैं । इसीलिए तुलसी ने कहा था-"तुहि प्रिय लागै राम कै तू रामहिं प्रिय होय ।" इस प्रकार साधना के भिन्न-भिन्न रूपों के अनुसार भी भक्तों के भी कई रूप हो गए हैं । उसके पलायन, दीनता, आहत भावना ने भय, दैन्य और निराशा की सृष्टि कर उसे आर्त्त भक्त बनाया; संग्रह प्रवृत्ति ने अर्थार्थी; जिज्ञासा ने जिज्ञासु और आत्म-प्रकाश ने मुमुक्षु । (गत प्रश्नों में हम कबीर के उपरोक्त सभी रूपों का विवेचन कर आए हैं ।) इसमें साध्य की एकता थी परन्तु साधन विभिन्न थे । इसी से अनेक पंथों का निर्माण हुआ । विभिन्न प्रतीकों के रूप में उस अव्यक्त की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज और आराधना निरन्तर चलती रही। उस अज्ञात को जानने की यही भावना और प्रयत्न रहस्यवाद कहलाता है। अर्थात् जहां आत्मा परमात्मा से मिलने का प्रयत्न करती है और उसे प्राप्त कर उसमें लय हो जाना चाहती है तब उस आत्मा के जो उदगार निसृत होते हैं काव्य में वही रहस्यवाद कहलाता है।

ब्रह्म प्राप्ति की इस साधना के तीन सोपान माने गए हैं- साधारण प्राण से विश्व प्राण और विश्व प्राण से महाप्राण। अर्थात् प्रथम अवस्था में साधक स्वप्राण की साधना में रत रहता है, दूसरी अवस्था में वह विश्वप्राण की अनुभूति में समस्त जगत से सचेतन सम्बन्ध जोड़ता रहता है। तीसरी अवस्था में वह 'महाप्राण' की सीढ़ी पर आरूढ़ होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। साधक यदि सरस्वती का उपासक भी है तो इन तीनों अवस्थाओं की अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करता जाता है जो उक्त साधना के समान ही रहस्यपूर्ण होता है।

रहस्यवाद की सत्ता काव्य और दर्शन दोनों में है। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उद्गम श्रोत हृदय। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उद्गम स्रोत मस्तिष्क। ज्ञान के रहस्यवाद के मूल में सांसारिक अनित्यता की उदासीनता, माया की छलना से भय तथा ज्ञान-चिंतन आदि प्रमुख तत्व हैं। भावना के रहस्यवाद के—मानव प्रेम, आश्चर्य का भाव और आत्मा की परमात्मा से विरह-अनुभूति—तीन प्रमुख तत्व हैं। तुलसी और कबीर के रहस्यवाद में इसी मानवप्रेम से अभिषिक्त रहस्य की भावना है। तुलसी इसी के कारण 'सियाराममय सब जग जानी' मानते हैं। आश्चर्य का भाव कवि को बालक के समान अबोध बना देता है। ऋग्वेद की ऋचाओं में, गीता के विराट स्वरूप-प्रदर्शन में, कबीर की उलटबांसियों में इसी रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। तुलसी का प्रसिद्ध पद 'केशव कहि न जाय का कहिए' इसी आश्चर्य भावना का प्रतीक है। महादेवी वर्मा ने निम्न पंक्तियों में इसी आश्चर्य के भाव का बड़ा सुन्दर और रहस्यवादात्मक काव्यमय भावचित्र अङ्कित किया है—

"शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार सी,
नैशतम में सघन छा जाती घटा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिखर जाती जुगुनुओं की पांति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार सी,
तब चमक जो लोचनों को मूँदता
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?''

आत्मा परमात्मा का अविच्छिन्न अंश है। इसको उससे बिछुड़े हुए न जाने कितना समय बीत चुका है। उस 'महा-मिलन' का क्षण अभी नहीं आया। आत्मा इसी 'महा विरह' के कारण क्रन्दन कर उठती है—

"ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के।
कुछ चिह्न शेष हैं केवल मेरे उस महामिलन के॥"

—प्रसाद

विभिन्न विद्वानों ने रहस्यवाद की विभिन्न व्याख्याएँ की हैं। आचार्य शुक्ल का कथन है—"साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" पं० गंगाप्रसाद पांडेय के शब्दों में—"रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम और स्वर्गिक 'महा अस्तित्व' के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।" डा० रामकुमार वर्माका मत है कि—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है और वह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता।" उपर्युक्त मतों से केवल आत्मा और परमात्मा के मिलन के प्रयत्न और मिलन की ही ध्वनि निकलती है। जगत इस मिलन में मायामय होने के कारण बाधक होता है। इस प्रकार रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत हैं। उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीनता पूर्ण आध्यात्मिक है।

रहस्यवाद की इस साधना में कवि के मन में पहले प्रभु के प्रति जिज्ञासा कुतूहल अथवा आश्चर्य की भावना उठती है, फिर उसके महत्व और उस महत्व की अनिर्वचनीयता का पता चलता है। इसके पश्चात् वह प्रभु के दर्शन करना चाहता है और इसके लिए अपने प्रभु के साथ विभिन्न सांसारिक सम्बन्धों की स्थापना करता है और अन्त में साधना की पूर्णता पर प्रभु से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकाकार हो जाता है।

रहस्यवाद कई प्रकार का होता है। बाबू गुलाबराय ने इसके पाँच प्रकार माने हैं—

१—ज्ञान और दार्शनिकता प्रधान रहस्यवाद—जैसे कबीर, दादू, प्रसाद, निराला आदि का। दार्शनिक रहस्यवाद में तर्क कम किन्तु आश्चर्यमयी जिज्ञासा और ऐक्य की अभिलाषामयी भावुकता अधिक रहती है।

यथा— 'चहकते नैनों में जो प्राण।
कौन किस दुःख जीवन के गान ?'

२—दाम्पत्य प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद—जैसे कबीर, जायसी, मीरा और महादेवी आदि का।

यथा— 'नयनन की करि कोठरी पुतली पलँग बिछाय।
पलकन की चिक डारि कै पिय को लीन्ह बिठाय॥'
—कबीर

३—साधनात्मक रहस्यवाद—इसमें योग और कर्मकांड की साधना का प्राधान्य रहता है जैसे गोरख, कबीर आदि का और कुछ प्राचीन तांत्रिकों, महायानी बौद्धों और शाक्तों का।

४—भक्ति और उपासना सम्बन्धी रहस्यवाद—जैसे सूर, तुलसी का। इसमें अद्वैत भावना की अपेक्षा सान्निध्य सुख को अधिक महत्व दिया जाता है। कृष्ण भक्तों में यह रहस्य भावना सखी भावना और दाम्पत्य भावना का रूप धारण कर लेती है। तुलसी का 'सिया राम मय सब जग जानी' पद इसी कोटि का है।

५—प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद—इसमें प्रकृति के माध्यम से परमात्मा की अनुभूति की जाती है। यहाँ आकर यह छायावाद से मिलता-जुलता स्वरूप धारण कर लेता है।

यथा— "मिले तुम राकापति में आज,
पहन मेरे दृग जल का हार।
बना हूँ मैं चकोर इस बार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहाता हूँ अविरल जल धार ॥
नहीं फिर भी तो आती लाज ।" —पंत

कबीर का रहस्यवाद—दार्शनिक दृष्टिकोण की दृष्टि से कबीर शंकर के अद्वैतवाद के अनुयायी थे। वे केवल एकमात्र एवं निरपेक्ष ब्रह्म के अस्तित्व में आस्था रख जगत को अनित्य एवं भ्रमात्मक माना करते थे। "रहस्यवादी कवि की अनुभूति उसे एक दार्शनिक अद्वैतवादी की कोटि में ला देती है। किन्तु वस्तुतः वह अद्वैतवादी नहीं हो पाता। अद्वैतवादी की तार्किक मनोवृत्ति उसे अनेक से एक की ओर ले जाकर किसी शून्यवत अज्ञेय वस्तु तक पहुंचा देती है और वह अवाक रह जाता है। किन्तु रहस्यवादी की दशा इस प्रकार की नहीं रह पाती। वह उस वस्तु तक अपनी अन्तर्दृष्टि के सहारे प्रवेश करता है और उसके साथ तन्मयता के आनन्द में मग्न भी हो जाता है। ... ... दोनों के बीच पूरी समरसता का भाव आ जाने के कारण, उस दशा को किन्हीं शब्दों में प्रकट करना एक असम्भव सी बात है। .... इस कार्य में सुगमता लाने के विचार से वह अपनी अनुभूत वस्तु के पृथक अस्तित्व की कल्पना करने लगता है।" (परशुराम चतुर्वेदी)

इसी स्थल पर आकर कवि की दृष्टि में अद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद का प्रश्न महत्त्वहीन हो जाता है। दार्शनिक अद्वैतवादी या द्वैतवादी तर्क का आश्रय लेते हैं। परन्तु रहस्यवादी तर्क में विश्वास न कर स्वानुभूति पर अवलम्बित रहते हैं। कबीर ने 'तर्क' का सहारा लेने वालों को मोटी बुद्धि का माना है—

"कहत कबीर तरक दुइ साधै तिनकी मति है मोटी।"

कुछ दार्शनिक रहस्यवादी बाल की खाल निकालने में लगे रहते हैं किंतु कबीर इस प्रकार के सैद्धान्तिक अथवा तर्कपूर्ण विवेचन से सदैव दूर रहे हैं। उन्होंने केवल प्रेम तत्त्व को महत्त्व दिया है जो स्वानुभूति पर आधारित रहता है—

"साखी शब्द सन्देश पढ़ि, मत भूलो भाई।
सार प्रेम कछु और है, खोजा सो पाई॥"

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय केवल यही दिखाना था कि कबीर रहस्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादी के रूप में न तो पूर्णतः अद्वैतवादी ही हैं और न द्वैतवादी ही क्योंकि कोई भी रहस्यवादी कवि पूर्णतः द्वैत या अद्वैतवाद का अनुसरण नहीं कर सकता। आगे के विवेचन में इसीलिए हमें कबीर की इन मिश्रित भावनाओं को देखकर भ्रम में नहीं पड़ जाना है। अस्तु,

कबीर के रहस्यवाद में हमें उनके कई प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होतें हैं। कहीं उनका रहस्यवाद प्रेममूलक है, कहीं योगपरक है, कहीं पारिभाषिक शब्दों द्वारा उन्होंने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की है तथा कहीं केवल अभिव्यक्ति जनित है। रहस्यवाद के इन विभिन्न स्वरूपों का कबीर में पाये जानें का कारण यह है कि कबीर सत्य के प्रयोक्ता थे। उनका सम्पूर्ण जीवन गांधी के समान सत्य के प्रयोगों का लेखा-जोखा है। रहस्यवाद के क्षेत्र में भी उन्होंने विभिन्न प्रयोग किए थे। इसी कारण उनके रहस्यवाद के अनेक रूप मिलते हैं। रहस्यवाद में सदैव अस्पष्टता रहती है। कबीर इस बात को जानते थे इसलिए उन्होंने पहले ही कह दिया था कि ब्रह्म का रहस्य स्वयं वही जानता है—

"वो है तैसा वो ही जानैं; ओही आहि आहि नहिं आनैं।
नैना बैना अगोचरी, भुवनां करनीं सार।
बोलन के सुख कारनैं कहिए सिरजनहार॥"

आगे चल कर उन्होंने पुनः स्पष्टः रूप से यह कह दिया था कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे के गुड़ के स्वाद के समान है—

"अकथ कहानी प्रेम की, कछू कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा, बैठा मुसकाइ॥

तथा

"तजि बावैं दाहिनैं विकार हरि पद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गूँगै गुड़ खाया, बूझै तो का कहिए॥"

आत्मा परमात्मा के मिलन को कबीर 'एकमैक ह्वै मिल' रहना बतलाते थे। परन्तु इतना कह देनेमात्र से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने उसके साथ अपने विभिन्न सांसारिक सम्बन्ध स्थापित कर उसे साकार रूप दे दिया। कहीं उसे 'सो दोसत किया अलेख' कहीं 'हरिगुर पीर हमारा' कहीं 'राम मेरा पीव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं राम की बहुरिया' तथा कहीं 'हरि जननी मैं बालक तोरा' आदि कहकर उससे विभिन्न सम्बन्धों की स्थापना करते थे। इसके बिना उनका काम भी नहीं चल सकता था। परमात्मा के प्रति तीव्र प्रेम की अनुभूति का प्रकटीकरण उसके निराकार स्वरूप के साथ चलना असम्भव है। इसी कारण कबीर ने सगुण भक्तों की तरह उसे साकार रूप में चित्रित कर सन्तोष पाया था।

डा० श्यामसुन्दरदास का कहना है कि—"भारतीय रहस्यवाद की विशेषता सर्वात्मवाद-मूलक होने में है जो भारतीयों की ब्रह्म जिज्ञासा का मूल है।....जिज्ञासु जब ज्ञानी की कोटि में पहुँचकर कवि भी होना चाहता है तो अवश्य ही इस रहस्यवाद की ओर झुकता है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्यवाद का रूप पकड़ता है।....यह परमात्मा के साथ सारी सृष्टि का अखंड सम्बन्ध देखता है।....कबीर में इसी रहस्यवाद की प्रधानता है।"

उक्त सर्वात्मवाद-मूलक रहस्यवाद में माधुर्य भाव का मिश्रण होने पर ही कबीर का रहस्यवाद पूर्णता को प्राप्त होता है। रहस्यवादी इस आध्यात्मिक तत्व की अनुभूति 'प्रेम और भावना' द्वारा करता है। कबीर की यह मान्यता थी कि ब्रह्म की प्राप्ति प्रेम या भक्ति से ही हो सकती है। ब्रह्म की इस प्राप्ति के लिए—

"कुछ करनी कुछ करमगति, कुछ पुरबला लेख।"

की आवश्यकता होती है। कबीर ने इन्हीं कारणों से उस 'अलेख' को देखा था—

"देखौ भाग कबीर का दीसत किया अलेख।"

परमतत्व की इस अनुभूति का परिचय उसकी तीन विभिन्न स्थितियों द्वारा प्राप्त होता है। सर्वप्रथम साधक के हृदय में विरह जाग्रत होता है। इसके लिए गुरु 'प्रेम का अंक' पढ़ाता है तथा 'पिया की पाती' देता है। साधक के हृदय में एक तीव्र पिपासा उत्पन्न होती है और वह उसकी तृप्ति के लिए व्याकुल हो जाता है। गुरु के द्वारा इस 'रामकहानी' को जानकर साधक प्रियतम के अलौकिक सौन्दर्य की झांकी पाकर, इस सौन्दर्य जनित प्रेम सुधा का पानकर पागल बन उठता है। कबीर इसी अवस्था का वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए कहते हैं—

"जानी जानी रे राजाराम की कहानी।
अन्तर जोति राम परकासा गुरु मुख विरलै जानी ॥"

इस हरि के प्रेम रस का खुमार कहीं नहीं उतरता। साधक इसमें मतवाला होकर घूमता फिरता है—

"हरि रस पिया जाणिए, जे कबहुं न जाय खुमार।
मैमंता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ॥"

इस प्रथम अवस्था में साधक अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के कष्ट उठाने को प्रस्तुत रहता है और सदैव उसके विरह में तड़पता रहता है।

द्वितीय अवस्था में साधक को उस तत्व का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है और तब वह एक विचित्र आल्हाद से आनन्दविभोर हो उठता है। अद्वैतवादी इसे 'आत्म ज्ञान' की तथा सूफी 'फना' की स्थिति कहते हैं। तृतीय अवस्था में साधक पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त कर ब्रह्म में लीन होने की स्थिति में आ जाता है। कबीर-साहित्य में उपरोक्त तीन स्थितियों के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। इन स्थितियों के व्यक्तीकरण के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रतीकों का आश्रय लिया है।

कबीर अपनी साधना की प्रथम स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

"सतगुर सांचा सूरिवां, सबद जु वाह्या एक।
लागत ही में मिल गया, पड्या कलेजै छेक ॥"

इसका परिणाम यह हुआ कि—

"बूड़े थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमंकि।
भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरंकि ॥"

इस प्रकार साधक की पूर्व दशा का परित्याग हो गया। सतगुरु द्वारा बताए गए उस प्रसंग ने उनके ऊपर प्रेम की वर्षा कर दी और वे उसमें सरावोर हो गए—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सतगुर हमसें रीझ करि, एक कह्या प्रसंग।
बरसा बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।।"

रोम- रोम के इस प्रेम वर्षा से भीग जाने से उनकी तृप्ति नहीं हुई। वे उस झलक को भरपूर देखना चाहते हैं। सर्वस्व त्याग कर के भी उसका पूर्ण अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी विरहानुभूति तीव्रतम होती चली जाती है। उन्होंने उसकी तलाश में—

"परबति परबति मैं फिरया, नैंन गंवाए रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवनि होई।।"

इतना करने पर भी उन्हें संजीवनी बूटी नहीं प्राप्त हो सकी।

दूसरी स्थिति में वे उसका परिचय देकर प्रियतम से मिलन का वर्णन करते हैं। उस अतीत वस्तु को उन्होंने अपनी सीमा के बाहर जाकर देखा। वह एक पुष्पित कमल के रूप में खिल रहा था और उनका मन भ्रमर की भांति उसमें रम गया—

"हदे छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरंतर बास।
कवल जे फूल्या फूल बिन को निरखै निज दास।।
कबीर मन मधकर भया, रह्या निरन्तर बास।
कवल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास।।"

इसके उपरान्त वे इसका वर्णन करते हैं कि उन्हें यह दशा कैसे उपलब्ध हुई—

"सूर समाणा चन्द मैं, दहूँ किया घर एक।
मन का च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख।।"

इस प्रकार वे उस अलेख को 'दोस्त' बना लेते हैं—

"देखौ कर्म कबीर का, कछू पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं सो दोसत किया अलेख।।"

और उन्हें प्रियतम की प्राप्ति हो जाती है—

"पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त।।"

उस समय वे जी खोलकर प्रियतम से गाढ़ालिंगन कर रहे थे परन्तु दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीरों के रहते यह कैसे सम्भव था—

"अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लग दोइ सरीर॥"

फिर इसका फल यह हुआ कि—

"तन भीतरि मन मांनियां, बाहरि कहा न जाय।
ज्वाला तैं फिरि जल भया, बुझी बलन्ती लाइ॥"

ऐसा होने पर साधक को पूर्ण सन्तोष मिल गया और वह स्थिति आ गई कि—

"अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अन्तर प्रगटै, लागै प्रेम धियान॥"

और इस 'प्रेम धियान' के लगने का परिणाम यह हुआ कि—

"जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अंधियारा मिट गया, तब दीपक देख्या मांहि॥"

कबीर ने ब्रह्म के सथ इस 'परचा' अथवा अपरोक्षानुभूति का वर्णन स्वयं को 'दुलहिन' और 'राम' को अपना 'भरतार' मानकर वर-बधू के विरह की विधि एवं तत्पश्चात् उनके मिलन के रूप में भी किया है। राजा राम 'भरतार' बनकर कबीर के घर आए—

"दुलहिन गावो मंगलचार हम घरि आयो हो राजा राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रत करिहौं पंच तत्व बराती।
....
कहै कबीर हम ब्याहि चलै पुरुष एक अविनासी॥"

इस आध्यात्मिक विवाह के उपरान्त सुहाग रात्रि आती है। प्रियतम को पाकर पत्नी--"अंक भरे भर भेंटिया, मन में नाहीं धीर।"

प्रियतम को पाकर वह उसे छोड़ना नहीं चाहती—

"अब तोहि जानन देहूँ राम पियारे।
ज्यूं भावैं त्यूं होउ हमारे॥

क्योंकि वह मिलन बहुत दिनों तक विरह वेदना झेलने के उपरान्त हुआ है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये भाग बड़े घर बैठे आए ।"
इसलिए मैं—"चरनन लागि करौं बरियाई प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥
इत मन मंदिर रहौ नित चोखै कहै कबीर परहु मत धोखै ॥"

इसके उपरान्त रहस्यानुभूति की तीसरी, अध्यात्मिक जीवन के अन्तिम विकसित रूप की अवस्था आती है, जिसमें साधक सिद्धावस्था को प्राप्तकर, साधक से मिलकर नीर क्षीर की भांति एक हो जाता है। ऐसा होने पर साधक में पूर्ण परिवर्तन हो जाता है। कबीर कहते हैं कि—

"मन का भ्रम मन ही थैं भागा,
सहज रूप हरि खेलन लागा।
मैं त तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट मांही ॥
जब थैं इनमन उनमन जांना, तब रूप न रेख तहांले बाना ॥
तन मन मन तन एक समांना, इन अनभैं माहैं मँन मांनां ॥
आतमलीन अखंडित रांमां, कहै कबीर हरिं मांहि समांनां ॥"

मिलन जनित इस भाव मग्नता की अवस्था के उपरान्त कबीर 'ज्यों जल जलहिं समाना' के समान पूर्ण अद्वैत को प्राप्त कर लेते हैं। यही रहस्यवादी की अन्तिम स्थिति होती है। इस स्थिति में आकर कबीर देखते हैं कि सारे ब्रह्मांड में केवल वही एक ओतप्रोत है। इस प्रकार वे सर्वात्मवाद की ओर संकेत करते हैं। इस अवस्था में पहुँचकर वे कह उठते हैं कि हम और राम तो एक हो गए अब अगर राम मरेंगे तो हम भी मरेंगे—

"हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरैं तो हम काहे कू मरिहैं ।"

कबीर के ब्रह्म के साथ इस मिलन में माया सबसे बड़ी बाधा है। इसका आक्रमण साधना की उपरोक्त दूसरी स्थिति में ही सबसे प्रबल होता है। कबीर इससे बचने का सबसे सुगम साधन यही मानते हैं कि साधक को यह समझ लेना चाहिए कि—

"मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा।"

आत्म-समर्पण एवं एकान्त निष्टा का यह सुन्दर संयोग साधक को निश्चिन्त कर उसे पूर्णतः निर्भय और निःसंक बना देता है। इसके अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधक 'ब्रह्म गियाना' अथवा आमतत्व की अनुभूति प्राप्त कर लेने पर भी निःसंक हो जाता है। इसी अवस्था को कबीर ने 'सहजावस्था' अथवा 'सहज समाधि' माना है। यहां आकर यह हुआ कि—

"अपनै परचै लागी तारी, अपन पै आप समांनाँ।
कहै कबीर जे आप विचारै, मिटि गया आवन जानाँ॥"

और इसी "आवन जानाँ" को मिटाकर अमर हो जाना ही साधक का अन्तिम लक्ष्य होता है।

यौगिक रहस्यवाद—यौगिक रहस्यवादी 'शब्द ब्रह्म' का उपासक होता है। समाधि की अवस्था में वह उसकी अनुभूति करता है। वह पिंड में ही ब्रह्मांड के दर्शन करता है। इस दर्शन करने की प्रक्रिया बड़ी रहस्यात्मक है। साधक गुरु से उसका परिचय प्राप्त कर 'उल्टी चाल' द्वारा, अन्तर्दृष्टि की सहायता से उस शब्द ब्रह्म को ढूँढ़ने चल देता है। मार्ग में उसे विचित्र शब्द सुनाई पड़ते हैं और विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं—

"अमृत बरसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल"

और कभी गगन घंटा का घहराना सुनाई पड़ता है—

"गगन गरजि अमृत चुबै, कदली कवल प्रकाश।"

और कहीं अनहद नूर सुनाई पड़ता है—

"अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।"

कहीं विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं—

"आकासे मुख ओंधा कुवां, पाताले पनिहारि।"

तथा

"जल मैं स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूर।"

इन वर्णनों में पूरी रहस्यात्मकता आ जाती है। इस यौगिक रहस्यवाद में कबीर ने भक्ति और योग का मिश्रण कर दिया है इसलिए उनमें रहस्यात्मकता रहते हुए भी मधुरता आ गई है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

"मन के मोहन बीठुला यह मन लागो तोहिरे।
चरन कमल मन मानिया और न भावै मोहि रे॥
षट दल कमल निवासिया चहुं को फेरि मिलाय रे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दहुँ कै बीच्चि समाधियां, तहाँ काल न पासै आइ रे ॥"

पारिभाषिक शब्दों का रहस्यवाद—कबीर ने स्थान-स्थान पर अनेक रहस्यपूर्ण पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। सम्भवतः इन शब्दों के प्रयोग के पीछे सूफी प्रभाव, नाथों और सिद्धों के हठयोग का प्रभाव कार्य कर रहा था। इन शब्दों में उनकी उलटवाँसियां, ६४ क्रिया, १४ चन्दा, १६ पवन अधारों, ५२ कोठरियों, १६ चक्रों, १० दरवाजों आदि का वर्णन आया है। ये सभी शब्द हठयोग की विभिन्न क्रियाओं के समय आने वाले स्थानों के प्रतीत होते हैं। ऐसे ही उन्होंने अपनी उलटवाँसियों में अनेक विचित्र रूपकों का वर्णन किया है। विवाह का रहस्यमय रूपक कई प्रकार से उपस्थित किया गया है। एक रूपक द्दष्टव्य है—

"फीलु रबाबी वलदु पखावज कउआ ताल बजावै।
पहिन चोलना गदहा नाचै भैंसा भगति करावै॥
राजाराम ककरिया वेर पकाए किन बूझ हमें खाए।
बैठ बैठ स्यन्घ तल पान लगावै घूंस गिलौरा छावैं॥
बरि मुसरी मंगलु गावहि कछुआ सेख बजावै।
वेस को पूत वियाहन चलिया सहने मंडप छावै।"

कबीर की उलटवांसियां बहुत प्रसिद्ध हैं अतः उनके उदाहरण देना व्यर्थ है।

अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद—अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद सिद्धों और नाथों के साहित्य में प्रायः पाया जाता है। इनमें साधारण जन के लिए अपरिचित शब्दों में विचित्र रूपक बाँधे जाते थे। इस भाषा को संध्याभाषा कहा जाता है। डा० त्रिगुणायत कबीर की उलटवाँसियों को इसी प्रकार के रहस्यवाद के अन्तर्गत मानते हैं। ये रूपक और उलटवाँसिया अत्यन्त जटिल हैं जिस कारण उनमें अस्वाभाविक रहस्यमयता आगई है। साधारण रूप से देखा जाय तो कबीर के पारिभाषिक शब्दावली वाले रहस्यवाद और इस विचित्र प्रकार की अभिव्यक्ति वाले रहस्यवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता। अतः दोनों को एक ही मान लेना चाहिये।

इस प्रकार हम कबीर में प्रधान रूप से तीन प्रकार के रहस्यवाद मान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं—प्रेममूलक, यौगिक तथा अभिव्यक्ति जनित। इन सभी प्रकारों में प्रेम और आनन्द की भावना किसी न किसी रूप में अवश्य पाई जाती है। उनके सम्पूर्ण प्रकार के रहस्यवादों का मूलाधार अद्वैतवाद है। साथ ही इनका रहस्यवाद मूल रूप से प्रेम मूलक होते हुए भी आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। कुछ विद्वान कबीर के रहस्यवाद को नीरस मानते हैं परन्तु ऊपर अनेक उद्धारणों द्वारा हम यह देख चुके हैं कि उनमें पर्याप्त सरसता है। विवाह का वर्णन माधुर्य की दृष्टि से बड़े से बड़े कवि से टक्कर ले सकता है। इसके लिए हम एक रहस्यपूर्ण अन्योक्ति को ही उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं—

"काहे री नलिनी ! तू कुम्हिलानी। तेरे ही नाल सरोवर पानी॥
जल में उतपति जल में बास। जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपति न ऊपर आगि। तोर हेत कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समाँनि, ते नहीं मूए हमारे जान॥"

डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में—"कैसा मृदुल मनोमोहक चित्र है। इसका सहज माधुर्य किसे न मोह लेगा।"

प्रश्न १७—कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तर—कबीर और जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में हिंदी के प्रसिद्ध विद्वानों के मत एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई कबीर को ही रहस्यवादियों में सर्वश्रेष्ठ मानता है तो कोई जायसी के ही रहस्यवाद में रमणीयता और सौन्दर्य के दर्शन करता है; कोई कबीर के रहस्यवाद को प्रायः नीरस और शुष्क मानता है तथा कोई आत्मा की दृष्टि से उन्हें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मानता है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

"रहस्यवादी कवियों में कबीर का ही आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—डा० श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली की भूमिका पृ० ७५
पंचम संस्करण।

"कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है, वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्ति भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रन्थावली की भूमिक, पृ० १६४, पंचम संस्करण

"कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं।" —चन्द्रवली पांडेय

"कबीर और जायसी दोनों ही हिन्दी साहित्य के सुन्दर रहस्यवादी कलाकार हैं। दोनों ने अपनी-अपनी भावना रूपी बधुओं की झांकी अपने-अपने ढङ्ग पर सँवारी है। वे दोनों बधुएँ रहस्यात्मकता की दृष्टि से समान होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।"

—डा० त्रिगुणायत

उपर्युक्त चारों मतों में से पहले दो मतों में आंशिक सत्य के दर्शन होते हैं। चन्द्रवली पांडेय के 'प्रायः' शब्द को यदि महत्व दिया जाय तो कुछ हद तक उनकी बात को भी स्वीकार किया जा सकता है। डा० त्रिगुणायत का मत अधिक समीचीन और संगत प्रतीत होता है। उन्होंने इन दोनों साहित्यिक महारथियों के मूल अन्तर को समझने का सफल प्रयत्न किया है। उन्होंने इस अन्तर का मूल कारण यह बताया है कि कबीर का आत्म-निरूपण पूर्णतः भारतीय आदर्श के अनुरूप है तथा जायसी की रहस्य-भावना वेश-भूषा में भारतीय दिखाई पड़ने पर भी भारतीय नहीं है इसलिए उसमें भारतीय मर्यादा के स्थान पर उश्रृंखलता और विलास अधिक है। इस सम्बन्ध में डा० त्रिगुणायत का मत द्रष्टव्य है—"कबीर की रहस्यात्मकता भारतीय हठयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और औपनिषदिक विचारधारा के सुहाग से सम्भूत होने के कारण पूर्ण भारतीय है।.....ये बात दूसरी है कि उस पर चलते-फिरते थोड़ा-बहुत प्रभाव सूफ़ी साधना का भी पड़ गया हो। किन्तु उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और निष्ठायें ठीक उसी प्रकार की हैं जैसी आदर्श भारतीय वधुओं में पाई जाती हैं।... अभारतीय सूफ़ी-साधना और भारतीय अद्वैतवाद के संयोग से उत्पन्न उनकी (जायसी की) रहस्य-भावना कुछ बातों में भारतीय और कुछ बातों में अभारतीय है। अपनी पारसीक माँ सूफ़ी-साधना और मासियों सुरति और सुरा के करों द्वारा लालित-पालित होने के कारण वह भी उन्हीं के सदृश्य उश्रृंखल, विलास प्रिय और भाव-प्रवण है। उसमें अपने भारतीय पिता अद्वैतवाद और पितृव्य हठयोग की भी कुछ विशेषताएं वर्तमान है। अद्वैत भावना उन सबसे प्रधान।"

अब तक, कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक विवेचना करने वाले विद्वानों ने केवल नीरसता और माधुर्य की ही तुलना की है। कुछ सज्जन इस तथा कथित अन्तर का कारण यह मानते हैं कि जायसी का रहस्यवाद इस कारण मधुर है क्योंकि उन्होंने प्रकृति के माध्यम से उसे व्यक्त किया है तथा कबीर के रहस्यवाद में आई हुई नीरसता का कारण उनके द्वारा प्रकृति की उपेक्षा किया जाना है। यह तुलना का केवल एक अंश है। हमें तो सम्पूर्ण रूप से इस अन्तर को देखना है। इसके लिए हमें पहले जायसी के रहस्यवाद को संक्षेप में समझ लेना है। विद्वानों ने जायसी के रहस्यवाद के पाँच प्रकार माने हैं--

१—आध्यामिक रहस्यवाद।

२--प्रकृति मूलक रहस्यवाद।

१--प्रेममूलक रहस्यवाद।

४—यौगिक रहस्यवाद।

५—अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद।

उपर्युक्त पाँचों प्रकार के रहस्यवादों में से प्रकृतिमूलक रहस्यवाद को छोड़कर शेष सबका वर्णन कबीर के रहस्यवाद में किया जा चुका है। कबीर ने प्रकृतिमूलक रहस्यवाद को नहीं माना है। इसका कारण यह है कि कबीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जहाँ प्रकृति अपने मिथ्यात्व के कारण तिरष्कृत है वहाँ जायसी में वही परमात्मा की झलक का साधन बन गई है। कबीर में आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है जबकि जायसी में प्रकृति परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाश होने के कारण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। दोनों साधकों की भावनाओं में अन्तर होने का कारण केवल यही एक बात नहीं है। उनके आध्यात्मिक रहस्यवाद, प्रेममूलक रहस्यवाद आदि के निरूपण में भी पर्याप्त अन्तर है।

जायसी के रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता उनकी 'प्रेम की पीर' है। इसी प्रेम-तत्त्व के कारण उनका रहस्यवाद मधुर से मधुरतम बन गया है। और इसी कारण उसमें विलास की झाँकियाँ मिलती हैं। हठयोग के कुछ वर्णनों को छोड़कर जायसी ने सर्वत्र अपने रहस्यवाद को व्यष्टिमूलक न बनाकर समष्टिमूलक ही रखा है। सूफीमत और इस्लाम के प्रति पूर्ण आस्था रखने के कारण कहीं-कहीं उनका रहस्यवाद सूफी सिद्धान्तों से पूर्ण रूप से प्रभावित हो गया है। इसके अतिरिक्त समष्टिमूलक दृष्टिकोण होने के कारण उनके रहस्यवाद की प्रक्रिया बाह्य है। साथ ही उन्होंने अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रायः अन्योक्ति और समासोक्तियों के द्वारा की है। इसी कारण वह बहुत कुछ सांकेतिक और व्यंजनात्मक हो गया है। जायसी के रहस्यवाद की अन्य विशेषताओं का उद्घाटन आगे तुलना के समय साथ-साथ कर दिया जायेगा।

तुलना—डा० त्रिगुणायत के अनुसार रहस्यवादी के लिए आस्तिक होना पहली शर्त है। कबीर पूर्ण आस्तिक हैं। उन्होंने नास्तिकों के शून्य को भी ब्रह्म बना दिया है। परन्तु उनकी आस्तिकता परम्परागत विश्वासों पर आधारित न होकर प्रत्यक्षानुभूति पर आश्रित है—

"देख्या है सो कस कहूं कहै तो को पतियाय।
गूँगे केरी सरकरा बैठे ही मुसकाय॥"

जायसी भी कट्टर आस्तिक हैं। वे पद्मावत का प्रारम्भ ही ईश्वर बन्दना से करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुमिरौं आदि एक करतारूँ ।
जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ।।"

लेकिन जायसी की आस्तिकता कबीर से भिन्न है। इस्लाम में प्रत्यक्षानुभूति पर विश्वास न कर ईमान पर लाया जाता है। इसी कारण उनमें भावना और कल्पना का प्राधान्य है जबकि कबीर में वास्तविकता का।

उपास्य के मामले में दोनों के ही उपास्य सगुण और निर्गुण के समन्वित रूप वाले हैं। परन्तु हम ऊपर कह आए हैं कि जायसी की प्रेम-भावना समष्टि-मूलक है इसलिए वे अपने आराध्य का चिंतन एक विराट सौंदर्यमयी सत्ता के रूप में करते हैं। कबीर की भावना व्यष्टिमूलक है इसलिए उसमें उस विराट सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। जायसी उसके सौन्दर्य वर्णन के लिए बाह्य साधनों का खुलकर उपयोग करते हैं जबकि कबीर में अपेक्षाकृत बाह्य साधनों की न्यूनता है। जायसी पद्मावती के सौन्दर्य में उसी विराट सौन्दर्य का प्रतिरूप देखते हैं—

"नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हँस भा दसन जोति नगहीर ।।"

इसके विपरीत कबीर का ब्रह्म 'सुनि मंडल वासी' है—

"कोई ऐसा न मिले सब विधि देहि बताय।
सुनि मंडल में पुरुष एक ताही रहै ल्यौ लाय

इसमें योगियों के वचनों की सी नीरसता है। यह अन्तर उपर्युक्त भिन्न दृष्टिकोण का ही परिणाम है। वैसे दोनों ही तत्त्व रूप में ब्रह्म के उपासक हैं। दोनों ही शून्यवादी हैं। दोनों के उपास्य पुरुष रूप हैं। परन्तु जायसी की सम्पूर्ण सृष्टि उसी आध्यात्मिक दिव्य सौन्दर्य से ओतप्रोत है। उनका लक्ष्य उसी सौन्दर्य की प्राप्ति है—

"धाय जो बाजा कै मन साधा। मारा चक्र भएहु दुइ आधा ।।
चाँद सुरुज और नखत तराहि। तेहि उर अन्तरिख फिरे सवाहि
पवन जाइ तहँ पहुँचे चहा। मारा तैस लोटि भुइ रहा ।।"

इसके विपरीत कबीर के पास अपने आराध्य के सौन्दर्य को व्यक्त करने के साधन नहीं हैं। वे उसे केवल प्रकाश-स्वरूप कह कर ही सन्तोष कर लेते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यदि उन्होंने कहीं प्रयत्न भी किया है तो उसमें जायसी का सा भावात्मक, सरस एवं ग्राह्य सौन्दर्य नहीं आ पाया है।

ब्रह्म की अनुभूति के विषय में दोनों एक सा विश्वास रखते हैं। परन्तु कबीर—

"आपै आप विचारिया, तब केत होय अनन्द रे।"

कहकर उसे विचार-प्रधान बना देते हैं। जायसी—"आप पिछौनै आपै आप" कहकर उसे भावना प्रधान बना देते हैं। इस अनुभूति के लिए कबीर का विश्वास है कि—

"कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरबला लेख"

की सहायता से ही उस 'अलेख' की अनुभूति की जा सकती है। इसके विपरीत जायसी—"न जनौ कौन पौन लेइ आवा" कहकर केवल आराध्य की कृपा पर ही विश्वास करते हैं।

आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के दो प्रधान भेद माने हैं—साधनात्मक और भावात्मक। कबीर को वे साधनात्मक और जायसी को भावात्मक रहस्यवादी मानते हैं। परन्तु डा० त्रिगुणायत का कहना है कि रहस्यानुभूति की दो प्रक्रियायें होती हैं—बाह्यात्मक और आन्तरिक। प्रथम के सहारे साधक समस्त विश्व के साथ एकात्मता का अनुभव करता है और दूसरी से उसे आत्मानुभूति होती है। इसी आधार पर उन्होंने रहस्यानुभूति के दो भेद माने हैं—समष्टि-मूलक अनुभूति-प्रधान तथा व्यष्टिमूलक अनुभूति प्रधान। वे जायसी को प्रथम प्रकार का और कबीर को दूसरे प्रकार का रहस्यवादी मानते हैं। क्योंकि प्रथम प्रकार की अनुभूति भावना-प्रधान होती है और दूसरी विचार प्रधान।

इस अनुभूति की प्राप्ति प्रेम के द्वारा ही सम्भव है—दोनों ही इस बात को मानते हैं। जायसी कहते हैं—

"प्रेम पहार कठिन विधि गाढ़ा। सो पै चढ़े जो सिर सौं चाढ़ा।
पथ सूरि का उठा अंकूरू। चोर चढ़ै कि चढ़ै मंसूरू॥"

कबीर के 'आत्माराम' भी इसी प्रेम हिंडोलना पर झूलते हैं—

"प्रेम भगति हिंडोलना जहँ झूलै आतमराम।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों ने ही प्रेम रूपी अमृत का पान किया परन्तु जायसी के प्रेम में मादकता, कोमलता और भावुकता का प्राधान्य है। उनके अनुसार इस—

"प्रेम फाँद जो परा न छूटा। जिउ जाइ पै फाँद न टूटा ॥'

यह प्रेम की अग्नि बड़ी भयानक है जो सारी सृष्टि में व्याप्त है। वह विरही और वह हृदय धन्य है जिसमें यह समा जाती है--

"मुहम्मद चिनगी प्रेम की सुनि महि गगन डराय।
धनि विरही औ धनि हिया जहँ अस अगिनि समाय ॥"

जहाँ तक दोनों द्वारा चित्रित प्रेम की तन्मयता, विरह तथा मिलन का प्रश्न है दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। निम्नलिखित कुछ उद्धरण इसे प्रमाणित करने के लिए यथेष्ठ हैं—

विरह— "हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भईं सब तांति।
रोंवरोंव सों धुनि उठै, कहों विथा केहि भांति ॥

—जायसी

"सब रग तंत रबान तन, विरह वजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै सांईं कै चित्त ॥"

—कबीर

"कुहुकि-कुहुकि कोयल जस रोई। रकत के आँसु घुंघुचि बन बोई।
जहँ-जहँ टाड़ होहि बनवासी। तहँ-तहँ होहि घुंघुचि के रासी ॥
बूँद बूँद में जानहु जीऊ। गुंजा गुंजि करै पिउ पीऊ ॥"

—जायसी

"नैना नीझर लाइया, रहट बसै निसि जाम।
पपिहा ज्यूँ पिउ पिउ करौं, कबरे मिलौगे राम

—कबीर

मिलन—"देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा ॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
अस्ति अस्ति सब साथी बोले। अँध जो अहै नैन निज खोले ॥"

—जायसी

"दुलहिन गावहु मंगलचार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे घर आए राजाराम भरतार
तन रत करि मैं मन रति करि हौं, पाँचों तत्त बराती।
रामदेव मेरे पाहुन आए, मैं जोबन मद माती ॥"—कबीर

मिलन और विरह के वर्णन में दोनों ही सूफ़ी काव्य परम्परा से प्रभावित हैं।

दोनों को ही अपने प्रियतम का पता गुरु के द्वारा मिलता है। कबीर को यह प्रेमतत्व के रूप में और जायसी को विरह के रूप में प्राप्त होता है। कबीर को—"गुरु ने प्रेम का अङ्क पढ़ाय दिया रे," तथा जायसी को—"गुरु विरह चिनंगी जो मेला। सो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥" जायसी का प्रेम रूप-लिप्सा-जनित है और कबीर का संस्कार-मूलक। सूफ़ियों के प्रेम का रूप लिप्सा जनित होने का कारण यह था कि भावुक सूफ़ियों ने अलौकिक भक्ति के साथ-साथ लौक़िक रति को भी महत्त्व प्रदान किया था। इसलिए सूफ़ी कवियों ने लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार की रति-भावना की अभिव्यक्ति में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। रति भावना का सम्बन्ध सौन्दर्य और प्रेम से है। इसीलिए सूफ़ियों ने ईश्वर की कल्पना सौन्दर्य रूप में की है या प्रेम रूप में। जायसी का सम्पूर्ण काव्य इसी कारण सौन्दर्य और प्रेम की भावना से विभोर है। उनका सौन्दर्य चित्रण सर्वत्र ही अलौकिक है। लौकिक सौन्दर्य के वर्णन में भी बीच-बीच में समासोक्ति द्वारा अलौकिकता की व्यंजना क़र दी है। इस लौकिक सौन्दर्य और लौकिक रति के कारण ही जायसी के रहस्यवाद में मादकता एवं विलास का पुट अत्यन्त गहरा हो गया है। पद्मावती के नखशिख वर्णन आदि में इसके दर्शन होते हैं। कबीर इस प्रकार के वर्णनों से दूर रहे हैं।

गत प्रश्न में हम कबीर की आध्यात्मिक अनुभूति की तीन विभिन्न दशाओं का वर्णन कर आए हैं। डा० त्रिगुणायत के अनुसार कुमारी अंडरहिल नामक अंग्रेज महिला ने इस अनुभूति की पाँच अवस्थायें मानी हैं—

१—आत्मा की जाग्रतावस्था—इसमें ब्रह्म-जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधक ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है।

२—आत्मा के परिष्करण की स्थिति—इसमें साधक विविध प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनाओं में लग जाता है।

३—आत्मा की आंशिक अनुभूति की स्थिति—इसमें वह विचित्र ध्वनियाँ सुनता है और विविध दृश्य देखता है।

४—रहस्यानुभूति के विघ्नों की अवस्था—इसमें ईश्वरानुभूति में बाधाएं पड़ने लगती हैं।

५—तादात्म्य की स्थिति—यह आत्मा परमात्मा के साक्षात्कार और तादात्म्य की स्थिति है।

गत प्रश्न की तीन विभिन्न स्थितियों में और इनमें कोई अन्तर नहीं है। पहली स्थिति आत्मा की जाग्रतावस्था अथवा विरह की अवस्था है। दूसरी स्थिति में आत्मा का परिष्करण होता है, आंशिक अनुभूति होती है और मायादि द्वारा विघ्न उपस्थित होते हैं। तीसरी स्थिति में तादात्म्य हो जाता है।

सूफ़ी उपरोक्त प्रथम स्थिति का वर्णन बड़े विस्तार से करते हैं और प्रेमियों की कठिनाइयों के हृदयद्रावक चित्र खींचकर उसमें पड़ने वाली विघ्न-बाधाओं की दुर्दमनीयता की ओर भी संकेत करते हैं। बाकी की दोनों स्थितियों का वर्णन वे बहुत कम करते हैं। कभी-कभी तो दूसरी का केवल उल्लेख मात्र सा करके तीसरी का नाम तक नहीं लिया करते। उनकी प्रेम कहानी का प्रवाह स्वभावतः दूसरी स्थिति तक आते-आते मन्द पड़ जाता है। कबीर ने उक्त तीनों स्थितियों का वर्णन समान रूप से किया है। अब हम डा० त्रिगुणायत द्वारा विवेचित उपरोक्त पाँचों स्थितियों के अनुसार कबीर और जायसी की तुलना करके देखेंगे कि दोनों में कहाँ साम्य और कहाँ वैषम्य है।

जाग्रतावस्था—यह दोनों में एक समान है। दोनों में ही गहरी जिज्ञासा, मिलन के लिए व्याकुलता, आदि है। जायसी का रतनसेन जब अपनी प्रियतमा के दिव्य सौन्दर्य की तन्मयता से जागता है तो सारा संसार उसे नीरस लगने लगता है और उसमें वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती है—

"जब भा चेत उठा वैरागा।"

कबीर वैराग्य को महत्व नहीं देते। उनके लिए ज्ञान ही सब कुछ है—

"कबीर जाग्याहि चाहिए, क्या घर क्या वैराग।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म-परिष्करण—इसमें साधक विरह से व्यथित होने के साथ ही साथ आराध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगता है। कबीर के विरह वर्णन में सूफी और भक्त दोनों का प्रभाव है। भक्तों से प्रभावित होकर वे "जिन पर गोविन्द बीछुड़े तिनको कौन हवाल", कहने लगते हैं और सूफियों का अनुसरण करते हुए कहते हैं—

"आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ लोग जाने दूखड़िया।
साईं अपने कारणौं, रोइ रोइ रातड़िया ॥"

इसके अतिरिक्त कबीर की विरह वेदना केवल उन्हीं तक सीमित है—व्यष्टिमूलक और एकान्तिक है परन्तु जायसी की विरह भावना केवल उन्हीं तक सीमित न होकर सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है—समष्टिमूलक, विश्वव्यापिनी है। इसलिए उसमें अधिक तीव्रता, माधुर्य एवं लालित्य है। नागमती की विरहाग्नि समस्त सृष्टि में व्याप्त हो रही है।

इस विरह से क्रमशः आत्म-परिष्करण होता जाता है। साधक विभिन्न प्रकार की साधनाओं में लीन हो जाता है। इसमें दोनों के मार्ग कुछ रूपों में समान होते हुए भी मूलतः भिन्न हैं। जायसी ने कबीर की यौगिक साधना की तरह सूफी-साधना अपनाई है। इसमें अपना 'कल्ब' (हृदय) शुद्ध करके रूह (आत्मा) को विकसित करना पड़ता है। इस शुद्धि के लिए साधक को सात मुकामात से होकर गुजरना पड़ता है। साथ ही उसे ईश्वर स्मरण और जप आदि भी करना पड़ता है। ये 'हालात' कहलाते हैं। इस प्रकार साधक शुद्धाचरण आदि की सहायता से अपने शरीर और मन को शुद्ध कर साधना के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इस मार्ग में चार पड़ाव पड़ते हैं—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत। अन्तिम अवस्था 'हाल' अर्थात् भावातिरेकता की चरम अवस्था होती है और यहीं आकर 'रूह' 'फना' होकर अपने आराध्य से जा मिलती है। जायसी में उपरोक्त सम्पूर्ण अवस्थाओं के चित्रण मिलते हैं। उन्होंने प्रियतमा की प्राप्ति—"चार बसेरे सो चढ़ै सत सों उतरे पार," कहकर इसी सूफी-साधना पद्धति का पालन किया है। कबीर ज्ञान, वैराग्य और योग द्वारा आत्म-परिष्करण कर भक्ति में तन्मय होकर साक्षात्कार करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर, "जल में कुम्भ कुम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जल है" जैसे सिद्धान्त वाक्य कहकर ज्ञान को प्रधानता दी है, कहीं हठयोग की विभिन्न साधनाओं का उल्लेख किया है। कबीर के ये सम्पूर्ण उल्लेख नीरस और शुष्क हैं परन्तु जहाँ उनकी भावना प्रेम और माधुर्य का आधार लेकर चली है वहाँ उनमें पूर्ण माधुर्य आ गया है। वे प्रेम में निमग्न होकर 'रामरस' पीकर छक गए हैं—

"छाक पर्यौ आतम मतबारा।
पीवत रामरस औ करत विचारा॥"

संक्षेप में कबीर के इस स्थिति के वर्णन विचार प्रधान और जायसी के भावना प्रधान हैं।

आंशिक अनुभूति—इसमें साधक को आराध्य की झलक सी मिल जाती है। कबीर इस स्थिति का आभास पाकर हर्ष से उन्मत्त हो उठते हैं। 'राजा राम की कहानी' को जानकर वे अपने आराध्य के लोक की मधुर कल्पना करने लगते हैं—

"जरा मरण ब्यापै नहीं, मुवा न सुनिए कोय।
चलि कबीर तेहि देसिड़े, जहँ बैद विधाता होय॥"

इस वर्णन में तीव्रता तो है मगर सरसता और कोमलता की रमणीयता नहीं आ पाई है। जायसी के इन वर्णनों में पर्याप्त सरसता और माधुर्य है। प्रियतम की झलक का वर्णन करने के उपरान्त जायसी उस लोक का चित्रण करते हैं—

"जहाँ न राति न दिवस है जहाँ न पौन न पानि।
तेहि बन सुअटा चल बसा कौन मिलावै आनि॥"

इस स्थिति में आकर सुअटा कहता है—

"नहरवा हमको नहिं भावै।
सांई की नगरी परम अति सुन्दर
जहँ कोई आवै न जावै॥"

इस आंशिक अनुभूति के मार्ग में विचित्र ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, विचित्र दृश्य दिखाई पड़ते हैं। कबीर में इसकी भरमार है। (देखिए प्रश्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्या १६) जायसी में इनके वर्णन अपेक्षाकृत कम हैं। जायसी के दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

"दसम दुआर ताल कै लेखा।
उलटि दिस्ट लावा सो देखा॥"
"नव पौरि पर दसन दुआरा।
तेहि पर बाज राज घरियारा॥"

विघ्न की अवस्था—आंशिक अनुभूति की यह अवस्था अधिक देर तक नहीं रह पाती। इसके मार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएं आ खड़ी होती हैं। कबीर ऐसी बाधाओ में संशयग्रस्त मन, पारिवारिक सम्बन्ध, कनक-कामिनी के प्रति आसक्ति एवं अन्य प्रकार के मोहादि को मानते हैं। ये सभी माया जाल की विविध कड़ियाँ है। माया रूपी ठगनी बीच बाजार में अपना जाल लिए बैंठी रहती है। जायसी ने भी अपने नायक के मार्ग में पड़ने वाली विविध कठिनाइयों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार अपनी प्रियतमा को खोजने वाले प्रेमी को अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं उसी प्रकार साधक के मार्ग में शैतान पग पग पर विघ्न बाधाएं खड़ी करता रहता है। जायसी का शैतान राघव चेतन है। परन्तु जायसी ने कबीर के समान माया के विभिन्न जालों द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि कबीर मायावादी थे और जायसी सूफी। कबीर का माया-वर्णन मधुर और भावात्मक है।

मिलन की अवस्था—मिलन की अवस्था में कबीर प्रथम तो आराध्य से मिलन मात्र की कल्पना से अपनी हीनता के कारण कांप उठते हैं—

"थरहर कम्पै बाला जीव। न जानै का करसी पीव॥
रैन गई मत दिन भी जाय। भंवर गए बग बैठे आप॥"

कबीर का यह वर्णन पूर्ण आध्यात्मिक है। जायसी ने भी मिलन से पूर्व की इस रोमांचित अवस्था का चित्रण ऐसा ही किया है मगर उसमें लौकिकता होने के कारण वह अधिक सरस है--

"अन चिन पिउ कांपै मन मांहा। का मैं करब गहब जो बांहा॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वारि वैस गई प्रीत न जानी। जुवा भई मैमंत भुलानी ॥
जोबन गरब न मैं कछु चेता। नेह कि जानों साम कि सेता ॥"

इसके उपरान्त पूर्ण मिलन की अवस्था आती है। मिलन होने पर साधक पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। उसमें एक समूल परिवर्तन दिखाई देने लगता है और उसका परिणाम यह होता है कि—

"मन का भ्रम मन ही थैं भागा,
सहज रूप हरि खेलण लागा ॥
मैं त तैं मैं ए द्वै नांहीं, आपै अकल सकल घट मांही ॥
जब थैं इनमन उनमन जाना, तब रूप न देख तहां लै बांना ॥
तन मन मन तन एक संमाना, इन अनभै मांहै मन मांना ॥
आतमलीन अखंडित रांमा, कहै कबीर हरि मांहि समाना ॥"

और जब यह तादात्म्य की पूर्ण अवस्था आ जाती है तो साधक को भान होने लगता है कि सारे ब्रह्मांड में केवल वही एक व्याप्त है। इस प्रकार अपने आराध्य के रूप को ही सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त देखकर वे सर्वात्मवाद की ओर संकेत करते हैं। जायसी ने भी उक्त भावनाओं का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है परन्तु अधिकतर ऐसे ही स्थलों पर ये वर्णन मिलते हैं जब कि प्रेमी अपनी प्रियतमा के विरह में संतप्त रहा करता है। उस दशा में, जायसी के अनुसार, विश्व के सभी पदार्थ उसके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते जान पड़ते हैं। रत्नसेन के विरहव्यथित हृदय का प्रभाव सम्पूर्ण सृष्टि पर पड़ रहा है। नागमती के आँसुओं से सम्पूर्ण सृष्टि भीगी हुई जान पड़ती है। परन्तु जायसी ने मिलन की अवस्था के समय भी सम्पूर्ण सृष्टि को प्रफुल्लित दिखाया है। सृष्टि के बिना तो जायसी एक कदम भी आगे नहीं चल पाते। साक्षात्कार का एक चित्र द्रष्टव्य है—

"कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप यहाँ लगि आई ॥
भा निरमल तिन्ह पायन परसे। पावा रूप रूप को दरसे ॥
मलय समीर बास तन पाई। भा सीतल गै तपन बुझाई ॥
न जनौ कौन पौन लै आवा। पुण्य दशा भई पाप गंवावा ॥
तत खन हार वेगि उतराना। पावा सखिन्ह चन्द विहसाना ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसा कुमुद देखि ससिरेखा। भई तहँ श्रोप जहाँ जहि देखा ।।
नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगहीर ।।"

साक्षात्कार के इस चित्र में एक विचित्र रमणीयता है, एक अलौकिक आनन्द है। इसकी तुलना में कबीर का वर्णन शुष्क और नीरस है। इसका कारण यह है कि कबीर उपनिषदों से प्रभावित हैं जबकि जायसी सूफी सौन्दर्यवाद और प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित हैं।

दूसरी बात यह है कि कबीर अपने आराध्य के दर्शन मानसिक रूप से अन्तर्दृष्टि द्वारा करते हैं और जायसी प्रत्यक्ष अर्थात् बाह्यात्मक रूप से। इसी कारण कबीर में शुष्कता है और जायसी में सरसता। इस मिलन के उपरान्त विविध प्रकार की क्रीड़ाएं आती हैं। कबीर का इन क्रीड़ाओं का वर्णन भी आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हैं तथा जायसी के वर्णन में लौकिकता का समावेश बहुत ही अधिक है। पद्मावती का नख शिख वर्णन, मिलन, रति आदि के वर्णन में अलौकिकता पूर्ण रूप से दूर हट जाती है। उस समय सम्भवतः जायसी लौकिक शृंगार में निमग्न होकर अपने मूल लक्ष्य को भूल जाते हैं। परन्तु कबीर सदैव जागरूक रहते हैं। वे केवल अपने प्रियतम के मधुर रूप-रस का पान कर मूक हो जाते हैं—

"देखा है तो कस कहूं, कहूँ सो को पतयाय।
गूंगे केरी शर्करा, बैठे ही मुसकाय ।।"

परन्तु आगे चलकर जायसी भी सचेत हो उठते हैं और अपनी तीव्र अनुभूति का प्रकाशन इस प्रकार करते हैं—

"सुनि धनि प्रेम सुरा के पिए। जियब मरन डर रहे न हिए ।।

इस स्थिति के परिणाम स्वरूप कबीर तो पूर्ण रूप में जीवन्मुक्त हो जाते हैं—पूर्ण से निर्भय और निःशंक--

"हरि मरिहैं तो हमहुं मरि। हरि न मरै हम काहे को मरिहैं ।।"

यही साधक की पूर्ण स्थिति है। जायसी मिलन से आगे इस स्थिति तक नहीं पहुँच पाते। इसका कारण यह है कि भारतीय रहस्यवादी का चरम लक्ष्य यही है। यह पूर्ण तादात्म्य की स्थिति होती है। सूफी काव्य में इस स्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का वर्णन नहीं पाया जाता। इस प्रकार कबीर रहस्यवाद की अन्तिम स्थिति 'पूर्ण तादात्म्य' तक पहुँच जाते है और जायसी मिलन तक ही सीमित रहते हैं।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद के आध्यात्मिक एवं सैद्धान्तिक पक्षों की तुलना करने के उपरान्त संक्षेप में उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली की भी तुलना आवश्यक है। रहस्यवाद एक आध्यात्मिक अनुभूति का परिणाम है अतः उसकी अभिव्यक्ति साधारण रूप से नहीं हो सकती। संसार के सभी रहस्यवादी कवियों ने विविध अभिव्यक्ति प्रणालियों का सहारा लिया है। जायसी और कबीर ने भी यही किया है। उनकी अभिव्यक्ति प्रणालियों में थोड़ा सा अन्तर है। कबीर ने प्रतीक पद्धति, रूपक पद्धति, तथा उलटवांसियों की सहायता से अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की है। भगवान से विविध प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते हुए उन्होंने प्रतीक पद्धति को अपनाया है परन्तु उसमें उनकी रुचि अधिक नहीं रही है। 'माली और कली' के वर्णन द्वारा उन्होंने अन्योक्ति पद्धति को भी अपनाया है जो अत्यन्त संक्षिप्त और सरल हैं। अत्यधिक आध्यात्मिकता के कारण उनके रूपक बड़े जटिल होगए हैं। इसके अतिरिक्त उनका मन उलटवांसियों में बहुत रमा है। रूपकों और उलटवाँसियों को अधिक अपनाने का कारण विद्वान लोग यह बताते हैं कि कबीर की दृष्टि में ब्रह्म की साधना सर्वसाधारण के बस की बात नहीं है। इसके लिए योग्य पात्रता अपेक्षित है। रूपक और उलटवाँसियां जटिल होने के कारण सर्व साधारण की समझ से परे की वस्तु होती हैं। उन्हें केवल योग्य पात्र ही समझ सकता है। इसके अतिरिक्त कबीर ने पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से उन्हें और भी जटिल बना दिया है। साथ ही कबीर ने अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए जायसी की भाँति किसी प्रेमकथा का सहारा नहीं लिया है। कहा जाता है कि यदि कबीर जायसी की भांति प्रेमकथा का सहारा लेते तो उनकी रहस्यानुभूति भी जायसी की तरह सरस, मधुर और कोमल बन जाती और यदि जायसी कबीर की तरह मुक्तक काव्य रचना करते तो उनमें भी कबीर की सी नीरसता और शुष्कता आ जाती।

जायसी ने अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेमकथा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहारा लेकर उसमें 'असफल अन्योक्ति एवं सफल समासोक्ति' का प्रयोग किया है। साथ ही उन्होंने प्रतीक पद्धति को भी अपनाया है। सम्पूर्ण पद्मावत एक प्रतीकात्मक रूपक माना जाता है। (इस विषय में नवीन खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि पद्मावत के अन्त में 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला पद क्षेपक हैं। अतः पद्मावत को रूपक नहीं माना जा सकता।) साथ ही जायसी ने योग की पारिभाषिक शब्दावली की अच्छी योजना की है।

अन्त में डा० त्रिगुणायत इस तुलनात्मक विवेचन द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—"जायसी और कबीर हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। एक का रहस्यवाद भारतीय भक्ति मार्ग, श्रुति-ग्रन्थ, सिद्धमत और नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक, एकान्तिक, व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक है। दूसरे का सूफी साधना और भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस, संकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के कारण मधुर और नाटकीय भी हैं।"

———

प्रश्न १८—"प्रतीकों के रूप में कुछ न कुछ ऐसी व्यंजना रहती है जिससे भावनाओं के विकास के संकेत मिल जाते हैं।" इस दृष्टि से कबीर के काव्य की समीक्षा कीजिए।"

उत्तर—कबीर प्रमुख रूप से कवि न होकर साधक थे। कवि-कर्म को उन्होंने 'व्यर्थ के लिए मरना' तक कह डाला है—

"कवि कबीनैं कविता मूए।"

फिर भी कबीर ने अपनी रहस्यानुभूति के प्रकाशन के लिए परम्परा से चली आती हुई अनेक अभिव्यक्ति प्रणालियों की सहायता ली है। प्रतीकों का प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे मनुष्य अपने भावों की यथेष्ठ अभिव्यक्ति के लिए बहुत दिनों से काम में लाता आया है। बहुत से विषय ऐसे होते हैं जो प्रत्यक्षतः इन्द्रियगम्य नहीं हुआ करते किन्तु जिनकी कल्पना हम अपने तर्क विश्वास अथवा अनुमान के आधार पर कर लिया करते हैं। ऐसे विषयों के वर्णन में हमारी भाषा की अभिधा शक्ति कुंठित हो जाया करती है इसलिए हम बहुधा लक्षणा शक्ति का सहारा लिया करते हैं। आत्मा और परमात्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ही अगोचर इन्द्रियातीत विषय हैं। इसलिए उस परमतत्व का अपरोक्ष अनुभव करने वाले साधकों को उसकी अभिव्यक्ति के समय एक विकट समस्या का सामना करना पड़ता है। उस समय वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को समुचित रूप में व्यक्त करने के लिए, उनसे साम्य रखने वाले लौकिक अनुभवों की, जिनसे सब परिचित रहते हैं, सहायता लेते हैं। इस प्रकार के अभिव्यक्ति परक प्रयोगों को साहित्यिक भाषा में प्रतीक-पद्धति कहा जाता है।

प्रतीक शब्द का अर्थ चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप होता है। यह किसी वस्तु का एक सजीव एवं पूर्णतः क्रियाशील प्रतिनिधि होता है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब साम्य के आधार पर किसी शब्द को किसी भावना या वस्तु का चिन्ह, प्रतिनिधि या प्रतिरूप मान लेते हैं तब उसके द्वारा कथन में स्पष्टता एवं मार्मिकता आजाती है। 'वृहदारण्यक-उपनिषद्' में एक स्थान पर प्राज्ञात्मा की रहस्यमयी अनुभूति को प्रियतमा के गाढ़ालिंगन का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। जिस प्रकार प्रियतमा द्वारा प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध पुरुष को न तो बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, उसी प्रकार प्राज्ञात्मा द्वारा आलिंगत साधक की भी दशा वही हो जाती है। साधारणतः प्रतीकों का प्रयोग विषय को स्पष्ट एवं सरल करने के लिये ही किया जाता है किंतु कभी कभी उनका प्रयोग किसी गोपनीय साधना विशेष को केवल उसमें दीक्षित व्यक्तियों के लिए ही स्पष्ट करने के लिए भी किया जाता है। उन्हें केवल उस साधना-विशेष से सम्बन्धित व्यक्ति ही समझ सकते हैं, इसलिये सर्वसाधारण के लिये वे अत्यन्त दुरूह प्रतीत होते हैं। संध्या भाषा, उलटवाँसियों तथा योग-साधना आदि में आये हुये प्रतीक ऐसे ही हैं।

प्रतीकों को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये 'उषा' तथा 'आशा' शब्दों का उदाहरण द्रष्टव्य है। 'उषा' शब्द आनन्द अथवा सौख्य का प्रतीक माना जाता है। इसी प्रकार 'आशा' शब्द प्रभात का प्रतीक है। प्रतीक रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रयुक्त शब्द से स्वतः भावनाओं के विकास की योजना हो जाती है जैसा कि 'उषा' तथा 'आशा' के कहते ही क्रमशः आनन्द तथा प्रभात की पूर्ण व्यंजना हो जाती है। क्योंकि प्रतीक किसी न किसी विशिष्ठ अर्थ की व्यंजना के लिये ही प्रयुक्त होते हैं इसलिये उनके द्वारा जो अभिव्यक्ति होती है उसमें अनुभूति की तीव्रता अनिवार्यतः आ जाती है। उच्चकोटि के कवि प्रायः प्रतीकों द्वारा अपने भावों की अभिव्यंजना करते हैं। प्रसाद की कामायनी प्रतीकों के आधार पर ही निर्मित है। कुछ लोग पद्मावत को भी ऐसा ही मानते हैं। कामायनी में 'श्रद्धा' कोमल भावनाओं की प्रतीक है और इड़ा परुष भावनाओं तथा बुद्धिवाद की। इनके द्वारा गम्भीरतम भावनाओं को समझने में पयाप्त सहायता मिलती है। इनके सहारे पाठक अर्थ को सहज रूप से समझता चलता है।

कबीर उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि और सत्य के अन्वेषक थे। उन्होंने सब जगह से ज्ञान संग्रह करने का प्रयत्न किया था। यह उनके विभिन्न प्रकार के प्रतीकों के प्रयोग द्वारा भी सिद्ध हो जाता है। उनके प्रतीक अधिकतर ऐसे हैं जो सिद्धों एवं नाथों द्वारा परम्परागत रूप से प्रयुक्त किए जाते रहे थे। उनमें भी प्रधानता साधारण ताँत्रिक एवं योगपरक साधनाओं से सम्बन्धित प्रतीकों की है। इसी प्रकार उन्होंने सूफियों के भी कुछ प्रतीकों को अपनाया था। कुछ ऐसे प्रतीकों का भी प्रयोग मिलता है जो 'कवि-समय' के रूप में प्रचलित रहे हैं।

कबीर अद्वैतवादी थे। ज्ञान साधना के आधार पर स्वानुभूति का परिचय देते समय साधारण भाषा में सीधी सी बात कह कर सन्तोष कर लेते थे। मगर जब भक्त अथवा प्रेमी के रूप में वे अपने आराध्य से विभिन्न साँसारिक सम्बन्ध स्थापित करते थे तब वे द्वैतवादी बन जाते थे और इसके लिए प्रतीकों का प्रयोग करने लगते थे। दास्य भाव, वात्सल्य भाव एवं दाम्पत्य भाव से सम्बन्धित उनकी उक्तियाँ ऐसी ही हैं। दास्यभाव के आवेश में आकर उन्होंने 'साहिब' और 'गुलाम' के अनुसार प्रतीक-योजना कर द्वैतभावना को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

"मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसाईं ।
तन मन धन मेरा रामजी कै ताईं ॥"

वात्सल्य भाव में इसी प्रकार उन्होंने परमात्मा को कहीं जनक और कहीं जननी मानकर स्वयं को उनका पुत्र माना है—

"हरि जननी मैं बालिक तेरा,
कतहे न अवगुण बकसहु मेरा ॥
सुत अपराध करै दिन केते,
जननी के चित रहैं न तेते ॥"

यहाँ हरि को "जननी" का प्रतीक बताकर उस शब्द में निहित मातृत्व-भावना को जाग्रत कराया है। "उस मूर्त स्नेह के समक्ष उसके 'बालिक' के अनन्त अपराध भी अपना अस्तित्व खो देते हैं और सह संवेदन के कारण इसके दुखों को वह स्वयं झेला करती है। फिर दोनों में मौलिक भेद कहाँ रह जाता है।" बालक के अपराध उन संस्कारों के प्रतीक हैं जिनमें जीवात्मा आवागमन के कारण बँधा रहता है।

दाम्पत्य प्रतीक के प्रयोग से शुद्ध आध्यात्मिक विचार मधुमयी कोमल भावनाओं के रूप में व्यक्त होते हैं जिससे काव्य में एक अलौकिक रस उत्पन्न हो जाता है। कबीर में आत्मा और परमात्मा के विरह और मिलन सम्बन्धी पदों की अधिकता है। दास्यभाव और वात्सल्य भाव के सम्बन्ध में जो स्तर-भेद की मात्रा दिखाई पड़ती है वह दाम्पत्य भाव में बहुत कम रह जाती है। इस भाव को उन्होंने अनेक प्रकार के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है। कबीर के इस दाम्पत्य भाव में सर्वत्र एक सात्विकता एवं आध्यात्मिकता मिलती है। उसमें वासना का लवलेश भी नहीं है। इसमें उन्होंने 'राम' के साथ अपना विवाह कराया है। मिलन के उपरान्त वे प्रियतम को सदैव अपने ही पास रखने के लिए उद्विग्न हो उठे हैं—

"अब तोहि जान न देहूँ राम पियारे
ज्यूं भावै त्यूँ होइ हमारे ॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए।
भाग बड़े घरि बैठे आए ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरनन लागि करौं बरियाई।
प्रेम-प्रीति राखौं उरझाई॥
इत मन-मंदिर रहौं नित चोखें
कहै कबीर परहु मति धोखै॥"

इसमें कबीर ने अपने प्रियतम को 'घरि बैठे' अथवा अपने घट के भीतर ही पा लिया है।

उक्त मानवीय सम्बन्धों के अतिरिक्त कबीर ने कहीं-कहीं अपने को पशु और परमात्मा को स्वामी माना है—स्वयं को गोरू और परमात्मा को ग्वाला। कहीं-कहीं अपने को राम का कुत्ता भी कहा है। स्वयं को गोरू और कुत्ता कहकर उन्होंने साधक की निरीहता, जड़ता आदि का संकेत किया है।

जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को उन्होंने एक स्थान पर जुलाहे के रूपक द्वारा व्यक्त किया है जिसमें विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग हुआ है—

"कोरी को काहू मरम न जांना।
सधु जग आइ तनाइओ तांना॥
जब तुम सुनि लै वेद पुरानां।
तब हम इतनकु पसरिओ तानां॥
धरनि अकास की करगह बनाई।
चन्द सुरजु दुइ साथ चलाई॥
पाई जोरि बात इक कीनी तह तातीं मन माना।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घट ही राम पछांना॥"

इस पद में प्रतीकों के सहारे जब हम इस तथ्य तक पहुँच जाते हैं कि 'कोरी' परमात्मा का, 'ताना' संसार का, 'करगह' पृथ्वी और आकाश का, 'ढरकी' चन्द्र और सूर्य का तथा 'जुलाहा' जीव का प्रतीक है तब सहज ही इस अर्थ तक पहुँच जाते हैं कि पृथ्वी और आकाश के करघे पर जो संसार का ताना है उसमें चन्द्रमा और सूर्य ढरकी का काम कर रहे हैं और काल का जाल बुनता चला जा रहा है। जीवात्मा जब इतनी बात समझ लेता है तब इस काल के जाल से बच जाता है और आत्मज्ञान द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनावस्था को उन्होंने निम्नलिखित पद में प्रतीकों के सहारे कितनी सरलता से स्पष्ट किया है—

"रवत नेम करि कोठड़ी बाँधी
बसतु अनूप बीच पाई
कुंजी कूलफ प्रान करि राखे
करते बार न लाई
अब मन जगतु रहु रे भाई
गाफल होइके जनम गवाइयो
चोर मुसै घर जाई
पंच पहरुआ दर महि रहते
तिन्ह का नहिं पतिआरा
चेति सुचेति चेत होइ रहु
तऊ लै परगाह उजारा
नउ घर देखि जो कामिनी भूली
वस्तु अनूप न पाइ
कहै कबीर नबै घर मूसैं
दसवें तत्त समाई।"

इस पद में 'कोठरी' शरीर का, 'अनूप वस्तु' आत्मा का, 'कुंजी कुलभ' प्राण का, 'चोर' माया का, 'पंच पहरुआ' पंचेन्द्रियों का, 'परगासु' ज्ञान का, 'कामिनी' मायाग्रस्त जीव का, 'नवै घर' शरीर के नवद्वारों का और 'दसवें' ब्रह्मरंध्र का तथा 'तत्त' ब्रह्म का प्रतीक है।

उपर्युक्त प्रतीकों के अतिरिक्त कबीर ने अन्य और प्रकार के प्रतीकों का भी प्रयोग किया है जिन्हें डा० त्रिगुणायत ने चार प्रकारों में बाँटा है—

१—सांकेतिक प्रतीक।
२—पारिभाषिक प्रतीक।
३—संख्यामूलक प्रतीक।
४—रूपात्मक प्रतीक।

सांकेतिक प्रयोग— हठयोगी साधकों में कुछ ऐसे शब्द प्रचलित थे जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्ट अर्थों के सांकेतिक रूप थे। जैसे ब्रह्मरन्ध्र के लिए 'गगन मंडल', सुषुम्ना के लिए 'वंकनाल' आदि शब्दों का उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है।

पारिभाषिक प्रतीक--सांकेतिक प्रतीकों के साथ हठयोगियों में कुछ रूढ़ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग चलता था। जैसे इड़ा, नाड़ी के लिए गंगा, पिंगला के लिए यमुना, कुंडलिनी के लिए 'बालरंडा', मूलाधार के लिए सूर्य, सहस्रार के लिए, चन्द्र अमृत के लिए आदि शब्दों का प्रयोग। उदाहरण द्रष्टव्य है -

"सूर्य समाणा चन्द्र में दुहूँ किया घर एक।"

इसी प्रकार सुरति, निरति, अजपा, अनहद, नादि आदि ऐसे ही शब्द हैं।

संख्यामूलक प्रतीक—हठयोग में प्रचलित कुछ संख्यामूलक शब्दों का का भी कबीर ने प्रतीक रूप में प्रयोग किया है। जैसे—

"चौंसठ दिया जोय के चौदह चन्दा माँहि।"

इसमें 'चौंसठ दिया' चौंसठ कलाओं का और 'चौदह चन्दा' चौदह विद्याओं का प्रतीक है।

रूपात्मक प्रतीक—कबीर के अधिकांश रूपकों में इनका प्रयोग मिलता मिलता है। विवाह के रूपक इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीकों में निहित व्यंजना के कारण किस प्रकार भावनाओं के विकास के संकेत मिल जाते हैं। कहीं-कहीं कबीर के काव्य में एक ही वस्तु के लिए कई-कई प्रतीक मिलते हैं। जैसे—

मन–मच्छ, मीन, जुलाहा, सियार, सावज, रोझ, हस्ती, मतंगज आदि।

जीवात्मा-जुलाहा, पुत्र, पारथ, दुलहा, सिंघ, मृसा, भौंरा, योगी आदि।

संसार—सायर, वन।

माया—माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया।

इन्द्रियाँ—सखी, सहेलरी आदि।

कबीर के ये प्रतीक उनके काव्य के प्राण हैं। इनसे उसमें सजीवता और मौलिकता की सृष्टि होती है जो पाठक को आश्चर्य चकित कर आनन्द मग्न कर देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न १९—कबीर की उलटवांसियों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—उलटवांसी का "प्रमुख उद्देश्य किसी बात का किसी विपरीत असाधारण कथन के द्वारा वर्णन करना है। तदनुसार 'उलटवांसी' शब्द को भी 'उल्टा' एवं 'अंश' जैसे दो शब्दों को जोड़कर बनाया गया माना जा सकता है और उस दशा में इसका तात्पर्य उस रचना से होगा जिसके किसी न किसी अंश में उलटी बातें मिलती हों।" (परशुराम चतुर्वेदी) इनकी रचना प्रायः अटपटी वाणी में होती है जिसका परिणाम यह होता है कि इन्हें सुनने वाला पहले तो इसका गूढ़ आशय न समझ पाने के कारण केवल वाक्जाल से ही प्रभावित होकर आश्चर्य चकित हो उठता है परन्तु बाद में विचार करने पर जब उसे उसमें अन्तर्निहित गूढ़ार्थ का ज्ञान होता है तो अपार आनन्द में निमग्न हो जाता है। कबीर की उलटवांसियों में बीच की कुछ पंक्तियों में प्रायः असम्भव बातें कही गईं हैं जो उस विशेष-साधना मार्ग से परिचित व्यक्ति के लिए तो स्पष्ट होती हैं क्योंकि उनमें उसी का वर्णन होता है परन्तु साधारण जन प्रयत्न करने पर भी उनके गुढ़ार्थ से अपरिचित ही रहता है। उलटवांसियों की रचना का दूसरा कारण यह भी माना जाता है कि वे लोग जो साधारण पदों की अवज्ञा करने वाले होते हैं, इन्हें सुन चमत्कार से प्रभावित होकर उसमें निहित ज्ञान को समझने का प्रयत्न करें।

समाज में शराब पीना महापाप माना जाता है परन्तु जब एक उलटवांसी में इसे सद्पुरुषों का धर्म बताया जाता है तो सभी पाठक एकबार तो विजड़ित से होकर रह जाते हैं। उनके मन में तुरन्त शंका उठती है। मगर जब शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि तालु के नीचे जो चन्द्र स्थित है यहाँ से अमृत झरता रहता है। यही अमृत रामरस, वारुणी या महावारुणी कहा जाता है। एक दूसरा उदाहरण 'बालरंडा' (बाल विधवा) का देखिए। 'बाल विधवा' हिन्दू समाज में पूज्य मानी जाती है। परन्तु जब उलटवांसी में कबीर यह कहते हैं कि 'बालरंडा' का बलपूर्वक अपहरण करना और उसका उपभोग करना विष्णुपाद माना है तो पाठक हठात् ग्लानि एवं क्षोभ से भर उठता है परन्तु जब उसे यह बताया जाता है कि 'बालरंडा'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुंडलिनी है, जिसे ऊर्ध्वमुखी कर अमृत का पान कराना है जिससे मुक्ति होती है तो पाठक इस गूढ़ाशय को समझ कर कवि के काव्य की दाद देने लगता है।

उलटवांसियों की परम्परा वैदिककाल से लेकर मध्यकाल तक समान रूप से चली आती है। वेदों, ब्राह्मणों एवं बौद्ध ग्रन्थों में इनका निरन्तर प्रयोग होता रहा हैं। 'चर्यापद' का एक उदाहरण देखिए—"मारि शासु नणन्द घरे शाली। माअ मारिया कान्ह भइल कपाली।" अर्थात् घर में अपनी सास, ननद एवं साली की हत्या करके तथा माँ को भी मारकर मैं कण्हपा कपाली हो गया। नाथ-साहित्य में भी इस प्रकार के कथन भरे पड़े है। 'हठयोग प्रदीपिका' में एक स्थान पर कहा गया है कि—"जो योगी प्रतिदिन गोमांस खाता है और अमर वारुणी पीता है उसी को हम कुलीन मानते हैं, अन्य प्रकार के लोग तो कुल घातक है।" कबीर ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त 'चर्यापद' में उद्धृत तान्तिया सिद्ध की एक उक्ति में कहा गया है कि—

"बलद बिआअल गविआ बांझे, पिटा दुहिए ए तिना सांझे"

अर्थात् बैल ब्याता है, गाय बाँझ रहती है और पीटक तीनों समय दुहा जाता है। कबीर ने भी नीचे की पंक्ति में इसका अक्षरशः अनुवाद सा कर दिया है—

"बैल बियाय गाय भई बाँझ, बछरा दूहे तीनों सांझ।"

उलटवांसियों में प्रयुक्त इस प्रकार की भाषा को विद्वानों ने 'संध्याभाषा', 'आलो आँधरी भाषा' आदि नाम दिया है जो प्रायः अस्पष्ट एवं अटपटी भाषा का अर्थ ध्वनित करते हैं। कबीर ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं को कहीं भी 'उलटवांसी' नहीं कहा है। वे इसके विषय में केवल कह देते हैं कि—

१—'कहै कबीर या पद कौं बूझैं, ताकूं तीन्यो त्रिभुवन सूझैं।'

२—'अवधू, सो जोगी गुर मेरा, जो या पद का करे नवेरा।'

३—'बूझौ अकथ कहाणी।' आदि।

इनसे प्रकट होता है कि कबीर ने उलटवांसियों की रचना केवल शाब्दिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमत्कार दिखाने या वैसे ही ऊटपटाँग रूप से नहीं की थीं। इनके द्वारा वे अपने दार्शनिक सिद्धांतों के गूढ़तम भेदों को केवल योग्य पात्र तक पहुंचाना चाहते थे। इसीलिए उनकी अधिकांश आध्यात्मिक उक्तियाँ उलटवांसियों के रूप में ही प्रकट हुई हैं। इन उलटवांसियों के चमत्कार के कारण कबीर की दार्शनिक नीरसता बहुत कुछ कम हो जाती है। इस प्रकार ये साहित्यिक सौन्दर्य उत्पन्न करने वाली हैं, चाहे ऊपरी तौर से वह शाब्दिक ही क्यों न प्रतीत हो मगर एक बार तो पाठक चमत्कृत हो ही उठता है।

कुछ लोग कबीर की उलटवांसियों की तुलना सूर आदि के दृष्टिकूटों से कर दोनों को एक ही प्रकार की रचना मानते हैं। परन्तु इन दोनों काव्य-रूपों में पर्याप्त अन्तर है। दृष्टिकूट में प्रसिद्ध पांडित्यपूर्ण उक्तियों द्वारा किसी वस्तु या विषय का वर्णन कर पाठकों के बाह्य ज्ञान की कसौटी रख दी जाती है। यदि पाठक का उसमें प्रयुक्त कवि प्रसिद्धियों से परिचित है तो वह उसका अर्थ समझ सकता है अन्यथा नहीं। इसमें लोगों की दृष्टि को चकमा देकर उन्हें भ्रम में डालने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु उलटवांसियों में व्यर्थ का भुलावा न देकर पाठक को वर्ण्यविषय की ओर आकृष्ट किया जाता है। इसका उद्देश्य विनोद न होकर उसे सजग और सचेष्ट करते रहना है। अतः दृष्टिकूट और उलटवांसी को एक नहीं माना जा सकता।

डा० त्रिगुणायत ने कबीर की सम्पूर्ण उलटवांसियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—

१—अलंकार प्रधान।

२—अद्भुत रस प्रधान।

३—प्रतीक प्रधान।

अलंकार प्रधान—उलटवांसियों में परस्पर विरोधी बातों की भरमार होने के कारण उनमें विरोध मूलक अलंकारों की भरमार रहती है। इन अलंकारों में रूपक, विषमालंकार आदि भी मिल जाते हैं। नीचे की उलटवांसी में इन अलंकारों की छटा देखने को मिलती है—

"हरि के षारे बड़े पकाए, जिन जारे तिनि षाए।
ग्यांन अचेत फिरैं नरलोई ताथैं जनम-जनम डहकाए ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावैं ।।
स्यंघ बैठा पांन कतरै, घूँस गिलौरा लावैं।
उँदरी बपुरी मंगल गावैं, कछुए आनन्द सुनावै ।।
कहै कबीर सुनहु रे सन्तौ, गडरी परवत खावा।
चकवा वैसि अँगारे निगलै समन्द अकासां धावा ।।

इस उलटबांसी की प्रथम पंक्ति में क्रमशः 'रूपक' एवं 'विरोधाभास' अलंकार हैं। तीसरी से छठी पंक्ति तक 'विषमालंकारों' की भरमार है और अन्तिम दो पंक्तियों में 'अधिक' अलंकार है। इसके अतिरिक्त कुछ और विरोध मूलक अलंकारों के उदाहरण दृष्टव्य हैं—

विरोध और विशेषोक्ति—'ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।'

असंगति—'आगमि वेलि अकास फल अण व्यावण का दूध।'

विभावना—'कमल जो फूले जलह बिन।'

अद्भुत रस प्रधान—कुछ उलटवांसियों में कबीर ने विरोध मूलक अलंकारों अथवा अद्भुत प्रतीकों को विशेष महत्व न देकर उन्हीं की सहायता से अद्भुत रस की सृष्टि की है। परिणाम यह होता है कि हम अर्थ की चिंता न कर आश्चर्य के सागर में गोते लगाने लगते हैं। डा० त्रिगुणायत ने इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथ्या मैं रहा भेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेखै ।।
मूसा बैठा बांबि में, लारै सापणि धाइ।
उलटि मूसैं सापणि गिली यहु अचरज भाई ।।
चींटी परवत उखण्यां लै राख्यो चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सूँ लड़ै, झल पांणी दौड़ै ।।
सुरही चूखै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुणी भया, सारदूलहि मारै ।।
भील लुक्या बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुरु करौं जो यहि पदहि विचारैं ।।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें सारी बातें ऊपरी दृष्टि से देखने पर असम्भव प्रतीत होती हैं। इसलिए अद्‌भुत रस की सृष्टि होती है।

प्रतीकात्मक उलटवाँसियाँ—डा० त्रिगुणायत ने इनके दो भेद माने हैं —मूलतः रूपक प्रधान और मूलतः प्रतीक प्रधान। इनके उन्हीं के द्वारा दिए गए उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं—

१—मूलतः रूपक प्रधान—पीछे अलंकार प्रधान उलटवाँसियों में उद्धृत 'हरि के षारे बड़े पकाए' वाली उलटवांसी।

२—मूलतः अलंकार प्रधान—

"कैसे नगरि करौ कुटवारी, चंचल पुरिष विचक्खन नारी।
बैल बियाय गाय भई बाँझ, बछरा दूहै तीनूँ साँझ॥
मकड़ी धरि माषी छछिहारी, मास पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मीडक सोवै साँप पहरिया॥
निति उठ स्याल सिंह सू जूझैं, कहै कबीर कोई बिरला बूझैं॥"

उलटवांसियों में कथित असम्भव कथन पर लोगों को विश्वास नहीं आता और वे हँसने लगते हैं मगर जब इन रूपकों अथवा प्रतीकों को सुलझाकर स्पष्ट किया जाता है तब पाठक आश्चर्य चकित हो उठता है। एक उलटवांसी के दोनों प्रकार के अर्थों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। देखिए—

"एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाड़ा सिंह चरावै गाई।
पहले पूत पीछे भई माइ, चेला कै गुरु लागै पाइ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगा खाई।
बैलहि डारि गूँनि घर आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई॥
तलि करि साषा उपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागै फूल
कहै कबीर या पद कौं बूझैं, ताकूँ तीन्यों त्रिभुवन सूझैं॥"

साधारण अर्थ—हे भाई! एक अचम्भा देखा, सिंह खड़ा-खड़ा गाय को चरा रहा है। पहले पुत्र उत्पन्न हुआ पीछे माँ हुई। गुरु शिष्य के पैर छू रहा है। जल की मछली पेड़ पर जाकर अन्डे देती है। मुर्गा बिल्ली को पकड़ कर खा गया। बिल्ली कुत्ते को ले गई। पेड़ की शाखाएँ नीचे हैं और जड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर हैं। जड़ में अनेक फूल लग रहे हैं।"

विशेष अर्थ—आध्यात्मिक पक्ष में इसका अर्थ होगा कि—

"(सिंह) ज्ञान द्वारा वाणी (गाय) समृद्ध हो रही है। प्रथम जीव (पुत्र) उत्पन्न हुआ और बाद में माया (माँ)। जीवात्मा (चेला) की शरण में शब्द (गुरु) जाता है। कुंडलिनी (मछली) जाग्रत होकर मेरुदंड (वृक्ष) पर चढ़कर फलवती होती है। (कुंडलिनी अधोमुखी रहती है। जाग्रत होकर वह ऊर्ध्वमुखी यात्रा करती है।) माया ने अज्ञानी (मुरगा या कुत्ता) को नष्ट कर दिया। पंचप्राण (बैल) तो धरे ही रह गए और स्वरूप की सिद्धि (गूंनि) घर में बस गई। मूल तो मस्तिष्क में है। जिसमें कमल खिले हैं और शाखा नीचे है। ऐसे शरीर में वृक्ष का बोध कर तब तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है।"

प्रश्न २०—कबीर की भाषा एवं रचना-शैली पर एक सारगर्भित निबंध लिखिए।

उत्तर—हम पीछे प्रश्न ६ में कबीर का काव्य रचना का उद्देश्य बता आए हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि उन्होंने अपने काव्य में केवल 'ब्रह्म विचार' को ही प्रकट किया है। अपनी बानियों की रचना का उद्देश्य विद्यापति की तरह वे किसी 'नाअर मन' को मुग्ध कर देना अथवा किसी 'कब्ब कलाउ छइल्ल' का मनोरंजन करना नहीं मानते। सुमित्रानन्दन पंत की ही तरह उनकी वाणी को सुगठित भाषा अथवा अलंकारों की आवश्यकता न होकर केवल भावों की ही आवश्यकता है। इसी कारण कबीर ने भाषा के सौन्दर्य की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया है। उसमें जो कुछ सौन्दर्य आ गया है वह उनकी अनुभूति की तीव्रता के ही कारण है।

जब हम कबीर की भाषा की तरफ़ ध्यान देते हैं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनके विभिन्न ग्रन्थों में भाषा के विभिन्न रूप मिलते हैं। यदि इसका कारण यह मान लिया जाय कि उन्होंने विभिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत पदों की रचना विभिन्न प्रदेशों में रहकर की थी इसलिए उनकी भाषा का रूप उस प्रदेश विशेष की भाषा के अनुरूप हो गया था परन्तु जब हम उनके एक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद को विभिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत देखते हैं और उसकी भाषा में अन्तर पाते हैं तो हमारी उपयुक्त धारणा ठीक नहीं बैठती। उस समय यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की भाषा का मूल रूप अनिश्चित है। यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त विभिन्न भाषा-रूपों में से उनकी भाषा का मूल रूप क्या रहा होगा। इस भ्रांति का ही परिणाम यह निकला है कि विभिन्न आलोचकों ने उनकी भाषा को अलग-अलग प्रदेश-विशेष की भाषा घोषित की है। इसका कारण यह रहा है कि जिस आलोचक ने जिस ग्रन्थ को अपनी आलोचना का मूलाधार बनाया है उसने उसमें व्यवहृत भाषा को ही कबीर की भाषा मान लिया है। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं--

डा० रामकुमार वर्मा—"कबीर ग्रन्थावली की भाषा में पंजाबीपन अधिक है।"

डा० श्यामसुन्दरदास—"कबीर-ग्रंथावली की भाषा पंचमेल खिचड़ी है।"

डा० बाबूराम सक्सेना—"कबीर अवधी के प्रथम सन्त कवि हैं।"

रेवरेन्ड अहमदशाह—कबीर-बीजक की भाषा "बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आसपास की बोली है।"

सूर्यकरण पारीख –"कबीर की भाषा राजस्थानी है एवं कबीर को वैसा ही राजस्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसा कि 'ढोलामारू' काव्य के कर्त्ता को।"

डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या—"कबीर रचना में हमें मुख्यतः व्रजभाषा मिलती है लेकिन इसमें कोसली या पूर्वी हिन्दी का कुछ-कुछ मेल पाया जाता है और खड़ी बोली का रूप भी यथेष्ठ परिमाण में मिलता है।"

डा० उदय नारायण तिवारी—"कबीर की मूल वाणी का बहुत कुछ अंश उनकी मातृभाषा बनारसी बोली में ही लिखा गया था," किन्तु "उनके पदों का पछांह की साहित्यिक भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया।"

परशुराम चतुर्वेदी—"कबीर साहब की रचनाओं की मूल भाषा में एक से अधिक प्रचलित बोलियों का सम्मिश्रण रहा होगा।"

डा० त्रिगुणायत—"कबीर ने किसी एक भाषा का प्रयोग नहीं किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उनकी बोलियों में हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी आदि कई भाषाओं का सम्मिश्रण तो मिलता ही है साथ ही साथ खड़ी बोली, अवधी, भोजपुरिया पंजाबी, मारवाड़ी आदि उप-भाषाओं का भी प्रचुर प्रयोग किया गया है।"

उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के मतों को देखते हुये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा कबीर की भाषा को 'पंचरंगी मिली जुली भाषा' कहा जाना अधिक संगत प्रतीत होता है। इसी कारण उन्होंने इसे 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। शुक्लजी का मत है कि कबीर की 'कबीर बीजक' की साखियों की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है तथा उनकी रमैनियों एवं पदों में 'काव्य की ब्रजभाषा' एवं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। इस भाषा-मिश्रण का कारण शुक्ल जी यह मानते हैं कि कबीर को यह भाषा नाथपंथियों से मिली होगी। नाथपंथियों का प्रभाव एवं प्रचार क्षेत्र राजस्थान और पंजाब की तरफ ही अधिक रहा था। साथ ही उन्होंने मुसलमानों तक भी अपना सन्देश पहुँचाने के उद्देश से खड़ी बोली का भी मिश्रण कर लिया। शुक्ल जी के शब्दों में इस भाषा का "ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था"। शुक्ल जी का यह मत कबीर की भाषा के सम्बन्ध में उपर्युक्त सभी मतों से अधिक समीचीन एवं संगत प्रतीत होता है।

कबीर की भाषा को 'पूर्वी' मानने वाले विद्वानों का आधार सम्भवतः 'कबीर-बीजक' में आई हुई निम्नलिखित साखी है—

बोली हमरी पूरब की, हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय ॥"

इसमें 'पूरव की' शब्द ने भ्रम उत्पन्न कर दिया है। एक दूसरी रमैनी में कबीर ने 'पूरव दिसा' का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा के बीच उस स्थिति के लिए किया है जहाँ उनके बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नहीं रहती। अतः इसका अर्थ 'पूरव दिसा' न होकर तादात्म्य की स्थिति से है। परशुराम चतुर्वेदी के कथनानुसार मुस्लिम सूफ़ी कवि शाह बरकत उल्लाह 'प्रेमी' ने भी 'धुर पूरब' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हम पूरब के पुरविया, जात न पूछे कोय।
जात पाँत सो पूछिए, धुर पूरब का होय ॥"

इसलिए कबीर की भाषा को कबीर की उपर्युक्त रमैनी के अनुसार 'पूरब' की नहीं माना जा सकता।

परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर की भाषा के विभिन्न उदाहरण देकर उसके विभिन्न रूप दिखाए हैं जो निम्नलिखित हैं—

अवधी—"जस तू तस तोहि कोई न जान" तथा "तैसें नाचत मैं दुख पावा।"

भोजपुरी—"नां हम जीवतमुव न ले मांहीं" तथा "दांत गैल मोर पान खात, केस गैल मोर गंग नहात।"

ब्रजभाषा—"अपनपौ आपुन ही बिसर्यौ" तथा "लेट्यौ भोमि बहुत पछितानौं, लालचि लागौ करत कर्नी।"

खड़ी बोली—"करणी किया करम का नास" तथा "यह मन चंचल चोर है, यह मन सुद्ध ठगार।"

पंजाबी—"लूण विलग्गा पांणियां, पांणी लूंण बिलग्ग।"

राजस्थानी—"क्या जाणौं उस पीव कूँ, कैसे रहसी रंग" तथा "बीछड़िया मिलिवौ नहीं, ज्यों कांचली भुवंग।"

उपर्युक्त उद्धरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि कबीर की भाषा में उपरोक्त छः भाषाओं का मिश्रण है। यहाँ तक तो ठीक है मगर जब हम कबीर के तीन विभिन्न ग्रन्थों में संग्रहीत एक ही पद की भाषा के क्रमशः तीन रूप देखते हैं तो पुनः भ्रम होने लगता है कि कबीर की भाषा का मूल रूप क्या होगा? इस रूप-भिन्नता का कारण डा० श्यामसुन्दरदास यह बताते हैं कि कबीर के काव्य को जिस-जिस प्रदेश के शिष्य ने लिखित रूप दिया होगा उसने उस पर अपने-अपने प्रदेश की भाषा का रंग चढ़ा दिया होगा। नीचे एक ही पद की प्रथम एवं द्वितीय पंक्ति के तीन रूप देखे जा सकते हैं—

कबीर बीजक—"फिरहु का फूले फूले,
जब दस मांस अउँध मुख होते, सो दिन काहे भूले।"

आदि ग्रन्थ—"काहे भईआ फिरतै फुलिया फुलिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब दस मास उरध मुष रहता, सो दिनु कैसे भूलिआ ।"

कबीर ग्रन्थावली—"फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ ।
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूल्यौ ।।"

इनमें क्रमशः अवधी, प्राचीन खड़ी बोली तथा व्रजभाषा के रूप मिलते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि कबीर की भाषा का मूल रूप सुरक्षित नहीं रहा है। परवर्ती लिपिकारों ने मनमाने ढङ्ग से उसमें परिवर्तन कर दिये होंगे।

कबीर की भाषा में विभिन्न बोलियों का यह विचित्र सम्मिश्रण इतिहास की उस परम्परा को भी सूचित करता है जिसके अनुसार कबीर के पूर्ववर्ती, समकालीन एवं परवर्ती अनेक कवियों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में एक साथ ही विभिन्न बोलियों का प्रयोग किया था। इसके अतिरिक्त इसका कारण यह भी हो सकता है कि कबीर काशी के वासी थे। परन्तु उनके शिष्य भारत के विभिन्न प्रान्तों से उनके पास आकर प्रवचन सुना करते थे और अपने प्रान्त को लौटते समय इन प्रवचनों पर अपनी भाषा का रंग चढ़ाकर साथ ले जाया करते थे। उन्हें भाषा के मूलरूप से कोई मोह न होकर केवल भाव से मोह रहा होगा। इसी कारण भाषा का यह मिश्रण हो गया होगा। अस्तु,

डा० त्रिगुणायत ने 'कबीर ग्रन्थावली' एवं 'सन्त कबीर' नामक कबीर के दो संग्रहों के आधार पर कबीर की भाषा की निम्नलिखित सामान्य प्रवृत्तियाँ निश्चित की हैं—

१—उसमें पंजाबीपन अधिक है।

२—उसमें भोजपुरी के संज्ञा और क्रिया रूप प्रचुरता से मिलते हैं।

३—उनकी भाषा में कहीं-कहीं खड़ी बोली के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

४—भाषा का रूप अधिकतर विषय और भाव के अनुरूप है।

५—उसमें विविध प्रान्तीय भाषाओं का मेल है।

६—वह अत्यन्त सरल और सीधी है।

७—उसमें संकेतात्मकता, प्रतीकात्मकता और पारिभाषिकता अधिक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८—उसमें किसी एक भाषा के नियमों का पालन नहीं किया गया है।

कबीर की भाषा के सरल और सीधी होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यदि उनकी उलटवांसियों और पारिभाषिक शब्दों वाले पदों को छोड़ दिया जाय तो उनका सम्पूर्ण काव्य साधारण पढ़े लिखे व्यक्ति की भी समझ में आ सकता है। इसी कारण जनता में जितना प्रचार कबीर की साखियों का है उतना और किसी भी कवि का नहीं है। कबीर की भाषा की एक दूसरी विशेषता यह भी है कि उनकी भाषा व्यक्ति, विषय और भाव के अनुरूप बदलती रहती है। जब वे मुसलमानों या सूफियों की बातें करते थे तो उसमें अरबी फारसी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता था। देखिए--

"मियाँ तुम्हसौं बोल्यां वाणी नहीं आवै।
हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जस मन भावै॥
अल्लाह अवलि दीन का साहिब, जारे नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारे है को, कहाँ कहाँ थैं आया॥"

उपर्युक्त पद में प्रयुक्त रेखांकित शब्द विदेशी हैं। दूसरी तरफ जब वे हिन्दू सन्तों के बारे में कहते हैं तो उनकी भाषा में हिन्दी के तद्भव शब्दों का बाहुल्य आ जाता है--

"निरवैरी निहकामता, सांई सेती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, सन्तनि का अंग एह॥"

तद्भव रूपों का प्रयोग केवल हिन्दी के शब्दों का ही नहीं अपितु विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी किया है। उनके अनेक शब्द तो ऐसे हैं जिनके असली रूप का भी पता नहीं चलता। इसका करण यह है कि उन्होंने भाषा की शुद्धता एवं सौन्दर्य की तरफ कभी ध्यान नहीं दिया था। वे अपने मनोद्गारों को सीधी, सरल, जन-साधारण की समझ में आ जाने वाली भाषा में ही व्यक्त करते थे। इसके लिए उन्होंने इच्छानुकूल तथा कहीं-कहीं तुक के मोह में पड़कर भी भाषा के रूपों को विकृत कर दिया है। इतना होते हुए भी उनकी भाषा में सर्वत्र एक प्रवाह, प्रभाव और प्रेषणीयता है। हृदय को स्पर्श करने की जितनी शक्ति कबीर की भाषा में है उतनी अन्य कवियों में नहीं। इसका कारण उनकी उक्तियों की सचाई और निश्छलता ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न २१--कबीर के काव्य में प्रयुक्त छन्दों एवं अलंकारों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उत्तर--कबीर की रचनाओं का अध्ययन कर अनेक विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उनकी सम्पूर्ण कृतियों को शुद्ध रूप से 'काव्य' नहीं माना जा सकता। स्वयं कबीर का उद्देश्य भी काव्य रचना करना नहीं था। उन्होंने केवल अपनी अभिव्यक्ति को सरलतम रूप देने के लिए ही काव्य का सहारा लिया था। इसलिए उन्होंने काव्य प्रकार, छन्द योजना एवं अलंकार-योजना की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया था मगर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उनमें अद्भुत प्रतिभा थी जिससे उनके काव्य का एक बड़ा भाग काव्यत्व की दृष्टि से सरस, सुन्दर एवं चमत्कार पूर्ण बन गया था। उनका उद्देश्य काव्य द्वारा अपने सदुपदेशों का प्रचार करना भी था। इस कारण उन्होंने जन साधारण में प्रचलित सरलतम काव्य-प्रकारों का उपयोग किया। इनसे उनके श्रोता स्वभावतः परिचित रहे होंगे।

कबीर की विभिन्न रचनाओं को देखने पर यह पता चलता है कि उन्होंने विशेष रूप से मुक्तक काव्य का ही प्रयोग किया है। प्रबन्ध का उनमें पूर्ण अभाव है। उनके शेष अंशों को हम निर्बन्ध काव्य भी कह सकते हैं। निर्बन्ध-काव्य में 'मुक्तक', 'गीत', 'सूक्ति' और 'नीतिवाक्यों' की गणना की जाती है। कबीर में इन सबके उदाहरण मिलते हैं।

कबीर द्वारा प्रयुक्त छन्दों में साखी, सबद और रमैनी सबसे प्रमुख हैं। ये शब्द सधुक्कड़ी छन्द हैं। इनका प्रयोग बहुत दिनों से चला आ रहा था। इनके अतिरिक्त उन्होंने चौंतीसा, कहरा, विप्रमतीसी, चाँचर, थिंती, बार, हिंडोला, वेलि, बिरहुली, बसन्त, बावनी, दूहा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया था। हम इनमें से उदाहरण के लिए केवल साखी, सबद अथवा पद और रमैनी का विवेचन कर औरों का संकेत मात्र ही कर सकेंगे।

साखी—कबीर साहित्य में कदाचित साखियों की संख्या सबसे अधिक है। इसका रूप बहुत कुछ दोहे से मिलता-जुलता हैं। रमैनियों में कुछ चौपाइयों के बाद दोहे के समान एक साखी का प्रयोग किया गया है। 'साखी' शब्द से अभिप्राय सम्भवतः महापुरुषों के आप्त बचनों से ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब हम अज्ञान के अन्धकार में भटकते हुए ज्ञान के प्रकाश की अपेक्षा करते हैं तब हमें कबीर के शब्दों में 'साखी' द्वारा प्रकाश की प्राप्ति होती है—

"साखी आँखी प्रेम की, समुजि देखु मन माँहि।
बिन साखी संसार का, झगरा छूटत नांहि॥"

कबीर साहब से पूर्व भी साखी छन्द का प्रयोग होता आ रहा था। कबीर ने स्वयं कहा है—

"पद गाए मन हरषिया, साषी कह्या अनन्द।"

साखी का स्वरूप दोहे से भले ही मिलता जुलता हो परन्तु इसे एक पूर्ण रूप से प्रथक छन्द माना गया है। इस भेद को तुलसीदास ने भी बताया है—

"साखी सबदी दोहरा, कह किहनी उपखान।"

परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में, "साखियों की रचना प्रायः 'दोहा' नामक छन्द में ही की गई पायी जाती है, किन्तु कबीर साहब की सभी साखियां केवल इसी रूप में नहीं दीखतीं। इनमें न केवल सोरठे मिलते हैं अपितु इनमें दोही, चौपाई, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छपै जैसे छंदों के भी उदाहरण मिल जाते हैं।

सबद अथवा पद—इसको कहीं-कहीं 'बानी' भी कहा गया है। कबीर के 'सबद, अधिकतर राग-रागनियों और पदों के रूप में ही हैं। ये सभी गेय हैं और इनको प्रायः उनके भजनों में सम्मिलित कर लिया जाता है। इनमें कबीर ने स्वानुभूति के प्रभाव में आकर अपने गम्भीर उद्‌गारों को प्रकट किया है और इसी कारण इन्हें उनकी साधना का भी परिचायक माना जा सकता है। ये साखियों के समान उपदेश देने के लिए न होकर 'स्वान्तः-सुखाय' अपने आत्मज्ञान को ही अभिव्यक्त करने के साधन-मात्र हैं। इसी कारण इनमें संगीत का समावेश हो गया है।

रमैनी—इसका प्रचार भी कबीर से पहले से होता चला आया है। कबीर ने स्वयं इसका उल्लेख किया है—"अदबुद रूप जगत कै बानी, उपजी प्रीति रमैनी ठानी।" कबीर पंथियों के अनुसार कबीर ने छः लाख छानवे हजार रमैनियों की रचना की थी—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सहस छानवै और छव लाखा।
जुग परमान रमैनी भाषा।"

कबीर ने कई प्रकार की रमैनियां लिखीं थीं जैसे—'सतपदी रमैणी', 'बड़ी अष्टपदी रमैणी', 'दुपदी रमैणी', 'अष्टपदी रमैणी', 'बारहपदी रमैणी' 'चौपदी रमैणी' आदि। रमैनियों की रचना दोहों, चौपाइयों में की गई है। इनका विषय प्रधानतः वर्णनात्मक है।

इनके अतिरिक्त कबीर ने 'बसन्त, 'चांचर, एवं 'हिंडोला छन्दों में ऋतु विशेष विषयक भावनाओं का व्यक्तीकरण किया है। 'बावनी' एवं चौंतीसा में वर्णमाला के प्रथम अक्षरों का निर्वाह मिलता है। 'थिंती, और 'बार, में क्रमशः तिथियों तथा दिनों के नामानुसार दैनिक साधना पद्धति का निर्देश किया जाता है। इन छन्दों में से कुछ परम्परागत थे तथा कुछ ग्रामीण बोलियों में प्रयुक्त होते थे। इन सभी छन्दों की एक विशेषता यह है कि ये पिंगल के नियमों से अनुशासित नहीं जान पड़ते क्योंकि विभिन्न स्थानों पर इनकी पंक्तियों एवं मात्राओं में पर्याप्त अन्तर है। कबीर इन्हें गाया करते थे इसलिए इनमें गीत एवं लय का ही विशेष ध्यान रखा गया है।

अलंकार—हम ऊपर कह आए हैं कि कबीर ने अपनी 'वाणी' को कभी भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न नहीं किया था। फिर भी उनकी प्रतिभा के कारण उसमें स्वाभावतः रमणीयता आ गई है। हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि कबीर को अलंकारों का शास्त्रीय ज्ञान था अथवा नहीं मगर फिर भी उनके काव्य में अनेक अलंकारों के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। कबीर ने उन्हीं अलङ्कारों का खुलकर उपयोग किया है जो उनके भाव को और भी अधिक प्रभावात्मक बना दें। इसी कारण उन्होंने सर्वाधिक प्रयोग रूपक और उपमालङ्कारों का ही किया है। उपमा से भी अधिक कबीर अपने रूपकों के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने विरोधमूलक अलङ्कारों में से विरोधालङ्कार, विरोधाभासालङ्कार, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, अधिक, विषम और विरोध का भी काफी उपयोग किया है। उनकी उलटवांसियों में इन्हीं अलङ्कारों की प्रधानता है। उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, दृष्टान्त, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, लोकोक्ति आदि का प्रयोग उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपेक्षाकृत कम किया है।

कबीर ने रूपक को सबसे अधिक इसलिए अपनाया है कि रूपक में साम्य की प्रतीत व्यंजना द्वारा होती है और कबीर अपनी रहस्यानुभूति को अभिधा की सहायता से व्यक्त करने में सफल नहीं हो सकते थे। इसीलिए उन्होंने व्यंजना का सहारा लेने के लिए रूपक अलंकार को सबसे अधिक अपनाया। कालिदास के उपमालंकार के समान कबीर के रूपालंकार विशेष प्रसिद्ध हैं। डा० त्रिगुणायत ने कबीर के रूपकों की निम्निलिखित विशेषताएँ बताई हैं—

१—सावयव हैं।

२—अध्यवसित हैं।

३—उनमें उपमान या अप्रस्तुत सरल और सामान्य जीवन से लिए गए हैं।

४—उपमान अधिकतर संकेतात्मक एवं प्रतीकात्मक हैं।

५—वे फल-साम्य या वस्तु-साम्य पर टिके हुए हैं।

६—कुछ मनोरंजन होने के साथ साथ उलटवांसियों के रूप में व्यक्त हुए हैं।

७—उनमें प्रभावात्मक प्रतीकों का प्रयोग अधिक मिलता है।

इनके उदाहरण इसी क्रम से निम्नलिखित हैं—

१—प्रश्न १६ के अन्तर्गत पारिभाषिक शब्दावली रहस्यवाद के उदाहरण के रूप में उद्धृत "फीलु रबाबी बलदु पखवाज कऊआ ताल बजावै" वाला पद देखिए।

२—दुर्ग का यह रूपक देखिए—

"सिव की पुरी बसै बुधि सारु।
तह तुम्ह मिलि कै करहु विचारु॥
ईत ऊत की सोझी परै।
कउन करम मेरा करि मरै॥
निजपद ऊपरि लागो धिआनु।
राजा राम नमु मोरा ब्रह्म गिआन॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल दुआरै बंधिआ बन्ध।
रवि ऊपरि महि राखिआ चन्दु॥
पछिम दुआरे सूरज तबै।
मेर डंड सिर ऊपरि बसै॥
पसचम दुआरे की सिल ओड़।
तिह सिल ऊपरि खिड़की अउर॥
खिड़की ऊपरि दसवां दुआरु।
कहि कबीर ता का अन्तु न पार॥"

३—कबीर ने उपमानों में सरल और सामान्य जीवन में प्रतिदिन काम आने वाली वस्तुओं को ही लिया है जैसे—कुम्हार, आम, चौपड़, दुर्ग, अन्न, आंधी आदि। प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत उपमानों के गुण साम्य को उन्होंने अधिक महत्व दिया है जैसे—

"नयनन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।
पलकन की चिक डारिकैं, पिय कूँ लियौ रिझाय॥"

४—"यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।

५—इसके लिए विवाह के रूप देखे जा सकते हैं।

६—७--उलटवांसियों एवं कबीर के रहस्यवाद में इनके उदाहरण दिए जा चुके हैं।

रूपकों के अतिरिक्त कबीर की उपमाएँ भी बड़ी सुन्दर हैं। उपमाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें आए हुए उपमान परम्परागत न होकर साधारण वस्तुओं से सम्बन्धित हैं जैसे—

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जाति।
एक दिनाँ छिप जाहिंगे, तारे ज्यूं परभात॥"

अन्योक्ति के लिए उनका यह पद अत्यन्त प्रसिद्ध है—

"काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति, जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तल तपत न ऊपर आग; तोर हेत कहु कासन लाग।
कहत कबीर जो उदक समान, ते नहिं मुए हमारी जान॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर ने साधारणतः शब्दालंकारों का प्रयोग नहीं किया है मगर अनुप्रास जैसे अलंकार उनमें अज्ञात रूप से स्वतः ही आगए हैं। देखिए—

"लोका जानि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक मैं खालिक सब घट रह्या समाई।"

असंगति, विभावना, अधिक, विषम, विरोध और विशेषोक्ति आदि विरोध मूलक अलंकारों के उदाहरण प्रश्न १६ में उलटवाँसियों के उदाहरण के रूप में दिए जा चुके हैं।

प्रश्न २२—कबीर साहित्य में प्रयुक्त कुछ परम्परागत पारिभाषिक शब्दों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—कबीर ने अनेक ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जो परम्परा से प्रयोग में लाए जाते रहे थे। इनमें से कुछ का प्रयोग उन्होंने उनके परम्परा से चले आते हुए प्रचलित अर्थों के रूप में किया है और कुछ का अपने नए मौलिक अर्थ में। इसलिए पाठकों को कभी-कभी उनके असली अर्थ लगाने में बड़ी कठिनाई होती है और कभी-कभी अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। कुछ चुने हुए शब्दों की व्याख्या निम्नलिखित है।

अनहद-नाद—इसका शुद्ध रूप 'अनाहत-नाद' है। मनुष्य शरीर में स्वतः ही उत्पन्न होने वाली विचित्र ध्वनि के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। योगी और सन्त इस विचित्र परन्तु मधुर ध्वनि को श्रवण करते हुए समाधिस्थ हो जाते हैं। यह ध्वनि ब्रह्मण्ड में व्याप्त शब्द ब्रह्म का प्रतिनिधि मानी जाती है। साधक अपनी कुंडलिनी को जागृत कर अपनी प्राण वायु को सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ठ कराता है। वहां से यह प्राण वायु षट् चक्रों एवं तीनों ग्रन्थियों—अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा—का भेदन कर अन्त में स्थिर हो जाता है। प्राणवायु के इस प्रकार ऊपर पहुँचने पर साधक को पहले समुद्र वा मेघ गर्जन जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती है, फिर शंख, घंटा, भेरी आदि और अन्त में यही किंकिणी, वंशी, वीणा अथवा भौंरे की गुंजार की तरह मधुर हो उठती है। अपनी अन्तिम अवस्था में आज्ञा चक्र के अनन्तर प्राण एवं मन नाद में लय हो जाते हैं। और फिर ऐसे "नादासक्त चित्त में फिर किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय की आकांक्षा नहीं रह जाती।" कबीर ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है— "पंषि उड़ानी गगन कूं, उड़ी चढ़ी असमान।
जिहिं सर मंडल भेदियो, सो सर लागा कान॥"

परन्तु अनहद-नाद का सुनना सब के लिये सुलभ नहीं है क्योंकि मनुष्य की सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग प्रायः बन्द रहता है।

अनहद-नाद का सम्बन्ध नाद एवं बिन्दु से भी माना जाता है। योग-क्रिया के सूर्य एवं चन्द्र ही नाद एवं बिन्दु कहलाते हैं। योगियों के अनुसार सहस्त्रार के मध्य चन्द्राकार एक बिन्दु से अमृत टपकता रहता है जो मूलाधार चक्र के पास स्थित सूर्याकार स्थान तक आते आते सूख जाता है। यदि साधना द्वारा इस अमृत को ऊपर ही रोक कर नीचे स्थित सूर्य को ऊपर लाकर चन्द्र से मिला दिया जाय तो साधक अमर हो जाता है। यही नाद एवं बिन्दु का मिलन कहलाता है। और तब अनहद नाद बजने लगता है—

"अमावस कै पारि झिलिमिलि चन्दा, पूनिम के घर सूर।
नाद के घर व्यंद गरजै, बाजन्त अनहद तूर॥

और इसका परिणाम यह होता है कि—

"जब अनहद बाजा बाजै, तब साईं संग बिराजै।"

कबीर ने इस अनाहद नाद का प्रयोग 'जगत गुरु की 'कींगरी'—"जगत गुर अनहद कींगरी बाजै"—तथा हरि की कथा के रूप में भी किया है।

शून्य—प्राचीन काल से 'शून्य' शब्द का प्रयोग एक प्रकार से निराकार ब्रह्म के लिये होता आया है। बौद्धों में यही अनात्मवाद का प्रचारक रहा और बाद में महायानियों में 'महासुखवाद', का प्रतीक बना। सिद्धों एवं नाथों में इसे 'ब्रह्मरंध्र' का वाचक माना गया। कबीर ने 'शून्य' शब्द का प्रयोग प्रायः सिद्धों एवं नाथों के अनुसार ही किया है। उन्होंने इसे कहीं 'ब्रह्मरंध्र' का, कहीं सुषुम्ना का तथा कहीं केवलावस्था का प्रतीक माना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई स्थानों पर इसे भावरूप ब्रह्म के लिये भी प्रयुक्त किया है—

"अबरन बरन घाम नहिं धाम। अबरन पाइयै गुरु की साम॥
टारी न टरै, आवै न जाइ। सुन्न सहज गहि रह्यो समाइ॥"

इस रूप में कबीर का शून्य अद्वैतवादियों के अद्वैत तत्व का भावात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रतिरूप है। कबीर ने कहीं कहीं 'गगन' एवं 'शून्य' का एक ही सा अर्थ माना है। जिस प्रकार वे 'गगन मण्डल' शब्द का प्रयोग 'गगन मंडल आसण किया' में करते हैं उसी प्रकार वे 'शून्यमण्डल' का भी प्रयोग 'सुनिमंडल में घर किया' जैसे रूप में करते हैं।

कबीर पहले तो 'शून्य' की महत्ता का खूब प्रतिपादन करते रहे मगर जब 'शून्य' शब्द को लेकर लोगों ने ढोंग रचने शुरू किये तो उन्होंने 'शून्य' का भी बहिष्कार कर डाला—

"मनमथ मरै न जीवई, जीवहिं मरन न होय।
सुन्य सनेही राम बिनु, चलै अपनपौ खोय॥"

अजपाजाप—"अजपाजाप को कभी-कभी 'सहज जाप' भी कहते हैं और यह नामस्मरण की उस पद्धति के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें सभी प्रकार के बाह्य साधन जैसे स्पष्ट वा अस्पष्ट नामोच्चारण, माला का फेरना, अंगुलियों पर नामों का गिनना आदि छोड़ दिए जाते हैं और जिसकी अन्तःक्रिया आपसे आप होती चलती है।" दूसरे शब्दों में इसे पूर्ण रूप से मौन रह कर जाप करना कहा जाता है। और यही कबीर के शब्दों में 'आपा में आप के समाने' की दशा है। इसमें केवल ऐसे ही साधक सफल हो सकते थे जो अपना ध्यान शब्दों अथवा अक्षरों को दुहराने के स्थान पर उपर्युक्त अनुभूति पर ही केन्द्रित कर सकते थे।

निरंजन—साधारणतः इस शब्द का प्रयोग 'निर्गुण ब्रह्म' के लिये ही होता है परन्तु राजस्थान तथा उड़ीसा में एक 'निरंजन सम्प्रदाय' भी है जिसका इष्टदेव 'निरंजन' है। नाथ पंथियों में यह 'ज्ञान' का वाचक रहा है। तथा कहीं-कही उन्होंने इसे 'ब्रह्मरंध्र' तथा ब्रह्मरंध्र में अवस्थित नाद स्वरूपी निर्गुण ब्रह्म का वाचक भी माना है। कबीर ने 'निरंजन' को 'राम' की ही भाँति मान कर यह बताया है कि 'महारस' की अनुभूति के लिये निरंजन को जान कर उन्हें अपने चित्त में ला रखना भी आवश्यक है। वे इसी को 'सारतत्व' ठहरा कर इसी को जानने का उपदेश देते हैं। वे उसे निर्गुण एवं निराकार मानते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गोव्यंन्दे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया।
तेरे रूप नांहीं, रेख नाँहीं, मुद्रा नहीं माया॥"

एक दूसरे स्थान पर वे इसे मुसलमानों के अल्लाह का भी सूचक ठहराते हैं—

"एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरक दहूँ नहीं मेरा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा।-"

इस प्रकार निरंजन कबीर के 'परमतत्व' का बोधक हैं, परन्तु 'निरंजनी-सम्प्रदाय' के निरंजन से चिढ़कर कबीर ने कई स्थानों पर उसे महाठग भी कहा है। उस समय यह 'निरंजन' शब्द ब्रह्म का वाचक न रह कर 'माया' का प्रतिरूप बन जाता है।

सहज—'सहज' शब्द का प्रयोग भी कबीर ने कई अर्थों में किया है। साधारणतः उन्होंने इस शब्द के मौलिक अर्थ 'स्वाभाविक' से ही इसे ध्वनित किया है। पारिभाषिक अर्थ में इसका प्रयोग 'सहजतत्व अथवा परमात्मात्व' के रूप में हुआ है। उन्होंने आत्म-विचार के लिये पहले 'सहज' का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक बताया है—

"अपने विचारि असवारी कीजै, सहज कै पाइजै पाव जब दीजै।"

इसलिये कबीर 'सहजतत्व' को समझ कर ही राम का भजन करते हैं—

"सहज जाँनि रामहिं भजै कबीरा।"

'सहज' के साथ 'रूप' को जोड़कर उन्होंने 'हरि' नामक परमतत्व का एक सुन्दर विशेषण दिया है—

'नरहरि सहजै दीं जिकि जाँनाँ।"

'सहज समाधि' के द्वारा वे उस परम तत्व में रम जाते हैं—

"सहज समाधैं सुख मैं रहिबो, कोटि कलप विसराय।"

और यह अवस्था ही 'सहज सुख' की अवस्था है—

"कहै कबीर सुख सहज सयाऊँ, आप न डरौ न और डराऊँ।"

इस सुख की प्राप्ति के लिये उन्होंने उसे 'सहजसुनि' (सहज शून्य) का नाम दिया है---

"कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।"

इस प्रकार कबीर की साधना को 'सहजयोग' कहा जा सकता है जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा वे--"राम नाम सहजैं ल्यौ लाई।" सिद्ध कर लेते हैं। (परशुराम चतुर्वेदी)

सुरति और निरति—कबीर ने 'सुरति' शब्द का प्रयोग कहीं 'स्मृति', कहीं वेद अथवा श्रुति कहीं 'स्मृति' ग्रन्थ, कहीं 'सौन्दर्य' के लिये किया है। यहाँ इनका शाब्दिक अर्थ ही लगाना पड़ता है। परन्तु जब उन्होंने सुरति निरति का प्रयोग पारिभाषिक शब्दों के रूप में किया है तब भ्रम उत्पन्न हो जाता है। कबीर का एक पद देखिये --

"सुरति समाणीं निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यम्भ दुवार॥
सुरति समाणीं निरति मैं, अजपा मांहैं जाप।
लेख समाणां अलेख मैं, यूँ आया मांहै आप॥

यहाँ 'सुरति' जीवात्मा का प्रतीक है और निरति परमात्मा का।

खसम—कबीर ने इस शब्द का प्रयोग प्रायः 'पति' के लिए ही किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे निष्कृष्ट पति के लिए तथा डा० त्रिगुणायत निर्गुण ब्रह्म के लिए इसका प्रयोग हुआ मानते हैं। सिद्धों ने इसका प्रयोग 'शून्य' तथा मन के लिए किया है। नाथपंथियों में यह नाद स्वरूपी ब्रह्म का वाचक है। कबीर ने इसका प्रयोग पति, ब्रह्म एवं मन के लिए किया है। वे लोगों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि तुम खसम = परमात्मा के प्रति उत्तरदायी बनो। 'कहै कबीर सुनहु रे संतो, ज्वाव खसम कूँ भरणां' निम्नलिखित पद में इस शब्द का प्रयोग 'जीव' के लिए हुआ है–

'भाई रे घूँन लिलूँटा खाई।
बाघनि संगि भई सबहिन के, खसम न भेद लहाई॥
सब घर फोरि बिलूँटा खायौ, कोई न जांनैं भेव।
खसम निपूतौ आगणि सूतौ, राँड़ न देई लेव॥"

मन के अर्थ में 'खसम' का प्रयोग देखिए—

"खसम मरै तो नार न रोवै, उस रखवारा औरै होवै।
रखवारे का होय विनास, आगे नरक ईहा भोग विलास॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मनि—कबीर ने उन्मनि शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों में किया है। 'उन्मनि' शब्द का अर्थ विरक्त रहना है। एक स्थान पर कबीर ने इसका प्रयोग समाधि अवस्था के लिए भी किया है—

"उनमनी ध्यान घट भीतर पाया।"

और इस स्थिति में आकर मग्न होकर वे 'रस' का पान करने लगते हैं--

"अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।"

अन्य स्थानों पर इन्होंने 'उनमन' अथवा 'उनमन्न' शब्दों द्वारा परमतत्व की ओर भी संकेत किया है----

"मन लागा उनमन्न सौं, उन मन मनहि बिलग।"
"मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहुंचा जाइ।"
"जब थैं इनमन उनमन जाना, तब रूप न रेष तहां ले बांना।"

एक अन्य स्थान पर उन्होंने 'सहज समाधि' और 'उनमनी रहनि' को एक ही कहकर साधक को अपनी मनोवृत्ति 'उनमन रहनी' बना लेने के लिए कहा है—

"शब्द निरंतर मनुअर पाता, मलिन वचन का त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरैं ऐसी तारी लागी॥
कहै कबीर यह उन्मुनि रहनी सो परगट करि गाई।
सुख दुख के इक परे परम पद तेहि में रहा समाई॥"

कहीं-कहीं इस शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में भी हुआ है--

"उन्मनि मनुआँ सुन्य समाना, दुविधा दुर्मति भागी।"

प्रश्न २३—सिद्ध कीजिए कि कबीर की कविता भक्त कवियों की विनयशीलता और आत्म भर्त्सना के बीच में स्पष्ट कण्ठ से कही गई धार्मिक और सामाजिक जीवन की पक्षपात रहित विवेचना है।

उत्तर—कबीर के वास्तविक महत्व को स्पष्ट करने वाली उक्तियों में 'भक्त माल' के रचयिता नाभादास की कबीर विषयक उक्ति का महत्व सर्वाधिक स्पष्ट एवं खरा है। उन्होंने आज से शताब्दियों पूर्व कबीर का मूल्याङ्कन करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए कहा था—

"कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी।
भक्ति विमुख जो धर्म सोई अधरम करि गायो।
जोग, जग्य, जप, दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं वचन, सबहि के हित की भाखी ॥
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ॥"

इस पद में कबीर के धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कार्यों का उचित मूल्यांकन अत्यन्त संक्षेप में कर दिया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कबीर ने जो कुछ भी कहा वह मुख देखी बात न होकर स्पष्ट कण्ठ से की गई धार्मिक और सामाजिक विवेचना थी।

इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि कबीर किसी मत-विशेष के अनुयायी न होकर स्वतंत्र विचारक थे। अपने जीवन में वे सदैव सत्य के विभिन्न प्रयोग करते रहे थे। जब एक प्रयोग से उन्हें असंतोष हुआ तो फौरन स्पष्ट शब्दों में उसका खंडन कर सत्य-शोधन के पथ पर आगे बढ़ गए। इसी कारण उनकी वाणी में इतनी स्पष्टता और खरापन आ गया है।

कबीर के धार्मिक जीवन एवं सिद्धान्तों की विवेचना हम पीछे कर आए हैं। उसमें हमने यह देखा है कि कबीर अपने युग की एवं अपने से पूर्व-प्रचलित विभिन्न विचारधाराओं के बड़े सजग और सतर्क अन्वेषी थे। उन्होंने जहाँ जो अच्छा देखा उसे अपना लिया। इस प्रकार उन्होंने अपने एक 'सहज धर्म' का स्वरूप निर्मित किया जो सब प्रकार से सात्विक, सरल, सहज, भावात्मक और बौद्धिक है। "उसका अद्वैत दर्शन अनुभूति पर आधारित है। उसके धार्मिक विश्वास और रीतियाँ बुद्धिवादिता पर खड़ी हुई हैं। उसकी नैतिकता, सात्विकता सरलता और मानवधर्म से अनुप्राणित है। उसकी साधना मनोजय और भक्ति एवं प्रेम से प्राणोदित है। उसकी अर्चना और उपासना विधि पूर्ण भावात्मक और मानसिक है। संक्षेप में यही कबीर के सहज धर्म का स्वरूप है।" —डा० त्रिगुणायत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर के उपरोक्त 'सहज धर्म' की पृष्ठभूमि में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रहा हैं। (प्रश्न १ में सामाजिक स्थिति का संक्षिप्त विवेचन किया जा चुका है।) उस युग में व्यक्तिवाद सशक्त हो रहा था, धर्म का वास्तविक स्वरूप लोप प्रायः हो चुका था। सारा समाज पारस्परिक संघर्ष और विद्वेष-भावना के कारण जर्जरित हो रहा था। जन-कल्याण का परम इच्छुक कबीर जैसा क्रांतिकारी व्यक्ति इस विश्रृङ्खलता एवं अनाचार को कैसे सहन कर सकता था। अतः राम का यह 'बन्दा' अपना घर फूँककर और लाठी हाथ में लेकर सत्य मार्ग के शोधन के लिए निकल पड़ा। उन्होंने सहज धर्म का—मानवमात्र के धर्म का—निरूपण करने के लिए न तो भगवान से ही प्रार्थना की और न अपनी दीनता का ही प्रदर्शन किया। भगवान की प्रार्थना एवं अनुग्रह की याचना तथा अपने अवगुणों का बखान उन्होंने केवल उसी समय किया जब वे अपनी वैयक्तिक साधना में लीन रहते थे। परन्तु जब वे समाज के अङ्ग बन कर समाज की दीनावस्था पर विचार करते थे तब उनकी वाणी में आर्द्रता के स्थान पर कठोरता आ जाती थी। भक्तिकाल में जब तुलसी ने 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' कह कर अपनी विनयशीलता और आत्म भर्त्सना का प्रदर्शन किया था और जब सूर भी उसी स्वर में कह उठे थे—'तू दयाल दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी' तब उससे पूर्व ही कबीर समाज की दशा से क्षुब्ध होकर एक स्वर से सब कुमार्गियों, मूर्खों एवं ढोंगियों को फटकार चुके थे।

कबीर 'कागद की लेखी' के स्थान पर 'आँखन की देखी' पर अधिक विश्वास करते थे। इसी कारण उन्हें पाखंड और ढोंग से चिढ़ हो गई थी। विभिन्न सम्प्रदायों के तथाकथित संत एवं भक्त बाह्याडम्बरों के फेर में पड़कर जनता को गुमराह कर रहे थे। कबीर जैसा भक्त, जो सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और शास्त्रीय बन्धनों का तिरस्कार कर एक मानव-धर्म की प्रतिष्ठा करना चाहता था उन आडम्बरों का निर्मूल खंडन किए बिना कैसे रह सकता था जो मानव के लोक और परलोक दोनों का ही हनन करने वाले थे। इसी कारण कबीर ने अपनी सारग्राहिणी, समन्वयात्मक प्रतिभा और सबल तर्कों से सुसज्जित अशास्त्रीय अभिव्यक्ति की सहायता से इन आडम्बरों का प्रबल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वर से विरोध किया।

कबीर के समय समाज में विभिन्न मत-मतान्तरों का बोलबोला था जो अपने-अपने मत एवं साधना-पद्धतियों को ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे और इस श्रेष्ठता को कायम रखने के लिए उन्होंने अपने चारों तरफ आडम्बरों का एक ऐसा दृढ़ जाल फैला रखा था जिससे साधारण जनता दिग्भ्रमित हो उठती थी। कबीर ने इन्हीं सब का उन्मूलन करने के लिए तथा समाज के विविध अङ्गों को परस्पर एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए सत्य एवं उपयोगिता के साधनों पर आधारित अपनी 'भाव-भगति' का प्रेममय स्वरूप उपस्थित किया था। इसमें उन्होंने सभी धर्मों के मूलाधार तत्वों को आत्मसात करके उसे एक नया मौलिक स्वरूप प्रदान किया था। इसीके प्रचार द्वारा उन्होंने सभी धर्मों के बाह्याडम्बरों का विरोध कर समाज-सुधार का पहला कदम उठाया था।

धर्म सदैव से समाज का नियमन करता आया है क्योंकि समाज को संचालित करने वाला नीतिशास्त्र धर्म के स्वरूप पर ही आधारित होता है। धर्म के ह्रास के साथ ही साथ समाज का भी पतन होने लगता है। कबीर के युग में धर्म और समाज दोनों का पतन हो रहा था। धर्म का सच्चा स्वरूप लुप्त हो चला था। कबीर ने इस धार्मिक आडम्बर का रहस्योद्घाटन करने के लिए विभिन्न मत-मतान्तरों एवं हिन्दू और मुसलमानी धर्म के बाह्याडम्बरों, अन्ध-विश्वासों आदि की चुभती हुई कटोक्तियों द्वारा खंडन किया था। इनके उदाहरण दर्शनीय हैं—

विविध साधनाओं की जटिलता का वर्णन करते हुए कबीर ने कहा था—

"इक पढ़हिं पाठ, इक भ्रमहि उदास, इक नगन निरन्तर रहैं निवास।
इक जोग, जुगति तन होंहि खीन, ऐसे राम नाम संग रहै न लीन॥
इक हूँहिं दीन एक देहिं दांन, इक करैं कलापी सुरा पान।
इक तंत मंत औषध बांन, इक सकल सिंध राखैं अपान॥
इक तीर्थ व्रत करि काया जीति, ऐसे राम नांम सूं करैं न प्रीति।
इक धोम घोटि तन हूँहि स्याम, यूँ मुकुति नहीं बिन रांम नांम॥"

इसके बाद वे पंडित, योगी, सन्यासी आदि सभी को अज्ञानी और मद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मस्त बताते हैं—

"सब मदिमाते कोई न जाग ।
ताथैं संग ही चोर घर मुसन लाग ।।
पंडित मांते पढ़ि पुरांन, जोगी माते धरि धियान ।
सन्यासी माते अहंमेव, तपा जु माते तप कै भेव ।।" आदि

कबीर इन सभी आडंबरों को त्याग कर केवल राम नाम का जाप करने का ही उपदेश देते थे ।

हिन्दुओं के पाखंडों, अन्ध विश्वासों, छुआछूत आदि के विचारों पर उन्होंने निर्मम प्रहार किए थे । देखिए—

"वैसनो भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक ।
छाया तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक ।।"

खानपान छुआछूत मानने वालों को संबोधित कर वे कहते हैं—

"एकै पवन एक ही पाणीं, करी रसोई न्यारी जापी ।
माँटी सूँ माँटी लै पोती, लागी कहौ काँ धौ छोती ।।"

पांडे की 'छोति' विचार पर वे पांडे को ललकार कर कहते हैं—

"काहे कौं कीजौ पांडे छोति विचारा ।
छोति ही तैं उपना सब संसारा ।।"

जब ऐसी बात है तब शूद्र और ब्राह्मण में कैसा भेद—

"हमारे कैसें लोहू तुम्हारे कैसें दूध ।
तुम्ह कैसे ब्राह्मन पांडे हम कैसे सूद ।।"

हिन्दुओं के तीर्थ, व्रत, मूर्त्तिपूजा आदि से उन्हें बहुत चिढ़ है । मूर्त्तिपूजा की खिल्ली उड़ाते हुए वे कहते हैं—

"पाहन पूजैं हरि मिलैं तौ मैं पूजूँ पहार ।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार ।।
पाहन कूँ का पूजिए, जे जनम न देई जाव ।
आँधा नर आसामुषी, यों ही खोवै आव ।।"

अगर कबीर पर सतगुरु की कृपा न होती तो वे भी—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"हम भी पाहन पूजते होते रन के रोझ।
सतगुरु की कृपा भई, डारया सिरथैं बोझ।"

तीर्थ व्रत को भी वे व्यर्थ मानते हैं—

"तीरथ वरत सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।
कबीर मूल निकंदिया, कौंण हलाहल खाइ॥"

इसलिए साधक को यह समझ लेना चाहिए कि—

"मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांण।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांण॥"

क्योंकि—

"हिरदा भीतर हरि बसै, तूँ ताही सौं ल्यौ लाइ।"

मूड़ मुड़ाकर सन्यासी होने वालों के आडंबर पर उनका व्यंग देखिए—

"मूड़ मुड़ाए हरि मिलैं, सब कोइ लेइ मुड़ाइ।
बार बार के मूड़ने, भेड़ न बैकुण्ठ जाइ॥"

इसलिए जप, माला आदि की व्यर्थता सिद्ध कर वे 'मन का मनका' फेरने का आदेश देते हैं—

"माला फेरत जुग भया, पाया न मन का फेर।
कर का मनिका छांड़ि दै, मन का मनका फेर॥"

अब जरा धर्म के ठेकेदारों के प्रति उनके कठोर व्यंग्य का दर्शन कीजिए—

"ताथै कहिए लोकाचार वेद कतब कथै व्योहार।
जारि वारि कहिं आवै देहा मूवां पीछै प्रीति सनेहा
जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूवां पितृ लै घाले गंगा
जीवत पितृ कूँ अन न ख्वावैं, मूवां पाछैं प्यंड भरावैं
जीवत पितृ कूँ बोलैं अपराध मूवा पीछे देहि सराध।
कहि कबीर मोहि अचरज भावै कौवा खाइ पितृ क्यूँ पावै॥"

कबीर मानव-मात्र में किसी भी वर्णभेद को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं। इसी कारण उन्होंने युगों से चली आती हुई हिन्दू वर्ण-व्यवस्था पर निर्मम प्रहार करते हुए कहा है—

"नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाका प्यंड ताही का सींचा।
जे तूँ वांमन वमन्नीं जाया,
तौ आन बाट ह्वै काहे न आया।।
कहै कबीर मधिम नहिं कोई,
सो मधिम जा मुख रांम न होई।"

इसलिए शूद्र और ब्राह्मण में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में ही –

"एक बूँद, एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उपजानां, को वामन को सूदा।।"

हिन्दुओं को फटकारने के उपरान्त वे मुसलमानों की तरफ झुकते हैं। मुसलमानों की बन्दगी, नमाज, अजान आदि से भी उन्हें घोर चिढ़ है। धर्म के ठेकेदार काजी और मुल्ला के ढोंग पर उनकी व्यंग्योक्ति देखिए–

"काजी मुल्लां भ्रमियां, चल्या दुनी के साथ।
दिल थैं दीन विसारिया, करद लई जब हाथ।।

काजी और मुल्ला बन्दगी और 'पंच नमाज' का ढोंग रच सत्य की हत्या कर झूँठ का प्रचार करते हैं–--

"यह सब झूठी बन्दगी बिरिथा पंच नमाज।
साँचै मारे झूठि पढ़ि काजी करै अकाज।।"

काजी का आवरण ढोंग से भरा हुआ है। वह वैसे तो अजान देते हुए एक ही ब्रह्म की पुकार लगाता है मगर अपनी जीभ के स्वाद के लिए जीव-हत्या करता है –

"कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीत एकै कहै, दरि क्यूँ सांचा होइ।।"

ये लोग इतने धूर्त होते हैं कि----

"दिन को रोजा रखत हैं, रात हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय।।"

मस्जिद में बांग देना भी व्यर्थ का आडम्बर है—

"कांकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे बहरा हुआ खुदाय।।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब इसलिए व्यर्थ है क्योंकि अगर खुदा मसजिद में ही है तो सारा मुल्क और किसका है—

"जो रे खुदाय मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा।"

इसी प्रकार मुसलमानों की 'खतना' आदि क्रियाओं को भी वे अप्राकृतिक और व्यर्थ का ढोंग मानते हैं—

"जे तूं तुरक तुरकनीं जाया,
तौ भीतर खतना क्यूं न कराया ॥"

इसीलिए ये सब, क्या हिन्दू क्या मुसलमान, सारे भ्रम में पड़े हुए हैं। इनके ये ढोंग इन्हें ब्रह्म से दूर रखते हैं। इन्हें सच्चे धर्म की पहचान ही नहीं रही है। सच्चा-साधक—चाहे हिन्दू हो या मुसलमान—वही है जिसका ईमान सच्चा रहता। कबीर की इसी विषयक एक उक्ति देखिए—

"आसण पवन किये दिढ रहु रे, मन का मैल छाड़ि दे बौरे ॥
क्या सींगी मुद्रा चमकांएं, क्या विभूति सब अङ्ग लगाएं ॥
सो हिन्दू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमान ॥
सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन, काजी सो जानै रहमांन ॥
कहै कबीर कछु आंन न कीजै, रांम नांम जपि लाहा लीजै ॥"

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों तक ही अपनी आलोचना को सीमित न रखकर जैन एवं शाक्तों को भी, जो अपने को सबसे प्रथक मानते थे, खूब फटकारा है। वे जैन श्रावकों के पारस्पिरिक वैमनस्य एवं उनके पानी छानकर पीने जैसे कर्मों को बुरा कहते हैं—

"पाड़ोसी सू रूसणां, तिल तिल सुख की हाणि।
पंडित भए सरावगी, पाणि पीवें छाँणि ॥

शाक्तों से तो उन्हें बहुत चिढ़ है। वे उनकी शक्ल तक नहीं देखना चाहते—

"वैष्णव की झुंपड़ी भली, ना साकत कौ बड़ गाँव।
चन्दन की चुटकी भली, ना बबूल अंवराव ॥"

अबधूतों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा है—

"अबधू कामधेनु गहि बांधी रे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भांडा भजन करै सबहिन का, कछू न सूझै आँधी रे।
जो ब्यावै तो दूध न देई, ग्याभण अमृत बरसै।।"

उपरोक्त उद्धरण कबीर की धार्मिक एवं सामाजिक बाह्याडम्बरों की पक्षपात रहित आलोचना के लिए पर्याप्त हैं। वे मनुष्य मनुष्य में कोई भेद स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं क्योंकि उनकी दृष्टि में—"साईं के सब जीव हैं कीड़ी कुंजर दोइ।" इसलिए हरि भक्ति के क्षेत्र में—"जाति पाँत पूछै नहीं कोई, हरि कों भजै सो हरि का होई।"

कबीर का युग पारस्परिक संघर्ष का युग था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से घृणा करते थे। परन्तु कबीर इस दशा से क्षुब्ध थे। वे जानते थे कि ये दोनों ही गुमराह हैं। इसीलिए उन्होंने दोनों की ही उपेक्षा कर अपने प्रयोगों एवं अनुभूति का सहारा लिया था—

"पंडित मुल्ला जो लिख दीया, छोड़ि चले हम कछु न लिया।"

और इसके द्वारा वे एक ऐसे धर्म की स्थापना करना चाहते थे जो इन सम्पूर्ण विषमताओं का नाश कर समाज में पूर्ण साम्य की स्थापना कर सके। हम सामाजिक एवं बाह्य धार्मिक आलोचनाओं एवं सुधारों का वर्णन कर चुके। अब उनके दर्शन के क्षेत्र में किए गए कुछ सुधारों को देखना भी आवश्यक है क्योंकि कबीर का क्षेत्र सीमित नहीं है। उन्होंने हर क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी के समान सुधार करने का प्रयत्न किया है।

दार्शनिक क्षेत्र में कबीर मूलतः वेदान्ती हैं। वे इसी के अनुसार दार्शनिकों द्वारा तर्क की सहायता से ब्रह्म को सिद्ध करने के प्रयत्न का खंडन करते हुए कहते हैं कि जो तर्क का सहारा लेते हैं उनकी बुद्धि मोटी है। इसी प्रकार तत्व निरूपण के क्षेत्र में वे 'श्रुति सम्मत' प्रमाणों को न मानकर अनुभूति को विशेष महत्व देते हैं। इसी कारण उनका तत्व-निरूपण वेदान्त के अनुरूप होते हुए भी विलक्षण है। कबीर के ऐसे सुधार के प्रयत्न सम्पूर्ण क्षेत्रों में बराबर चलते रहे हैं। उनकी खंडनात्मक उक्तियों को देखकर कुछ आलोचकों ने उन्हें अराजकतावादी घोषित किया है। अराजकतावादी का अर्थ यदि उस क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से है जो सम्पूर्ण अशुभ को नष्टकर पूर्ण शुभ की स्थापना करना चाहता है तो कबीर वास्तव में एक अराजकतावादी थे। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि इसका अर्थ उस व्यक्ति से लिया जाता है जिसके अपने कोई स्पष्ट सिद्धान्त नहीं होते और वह पक्षपात के मोह में पड़कर सब कुछ नष्ट भ्रष्ट करता हुआ चला जाता है तो कबीर को अराजकतावादी कहना सबसे बड़ा अन्याय है। कबीर की खंडनात्मक विध्वंसक भावना की पृष्ठभूमि में उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति निहित है। उन्होंने यही तो कहा था कि—

"चलौ बिचारी रहौ संभारी, कहता हूं जु पुकारी।"

इसमें मानव मात्र के लिए एक चेतावनी है कि संसार में आँख खोलकर चलो, सम्हलकर चलो। क्या यह कहना ही अराजकतावाद है? क्या जीवन की सरलता, हृदय की निष्कपटता, मन की शुद्धता का उपदेश देना विध्वंसक माना जा सकता है? डा० त्रिगुणायत के शब्दों में इसका उत्तर यही है कि—"वे क्रान्तिदर्शी महात्मा थे जिनके जीवन का लक्ष्य साम्यवाद की प्रतिष्ठा करना था।"

कबीर युग द्रष्टा थे। युग की गतिविधि पर उनकी निगाह थी। इसलिए हम उन्हें राजनीति, समाज या धर्म के सीमित दायरे में आबद्ध नहीं कर सकते। डा० त्रिगुणायत ने कबीर का मूल्यांकन करते हुए आगे लिखा है कि—"कबीर की सद्‌समाज प्रियता उनकी विचारधारा में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित दिखलाई पड़ती है। उन्होंने परम्परागत अन्ध विश्वासों, प्रथाओं और संस्थाओं का मूलोच्छेदन करके धर्म, दर्शन और समाज सभी क्षेत्रों में बुद्धिवादी साम्यवाद प्रतिष्ठित किया था। अपने लक्ष्य की पूर्त्ति, उन्होंने, इसमें कोई भी सन्देह नहीं, बड़ी कटुता के साथ की है।···वास्तव में उनका साम्यवाद भारत के लिए एक मौलिक देन है।" कबीर का असली व्यक्तित्व यही है। इसलिए भक्तिकाल में भक्ति के लिए आवश्यक विनयशीलता और आत्मभर्त्सना की अपेक्षा स्पष्ट रूप से धर्म और समाज की पक्षपात रहित आलोचना को उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया था। इसका कारण यह था कि कबीर को उस संक्रान्तिकाल में युग द्रष्टा होने के कारण पथ-प्रदर्शक का कार्य करना था। इसलिए धर्म और समाज में एक दूसरे को हेय समझने वाली पनपती हुई मनोवृत्ति को नष्टकर ऐसे सामान्य धर्म और सामान्य समाज की स्थापना आवश्यक थी जिसके आधार पर मानवता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकसित हो सके। "इसके लिए उन्होंने अपनी प्रखर भाषा और तीखी भाव-व्यंजना से जिस काव्य का सृजन किया है वह साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण भले ही कर गया हो। किन्तु उसके द्वारा साहित्य और धर्म में युगान्तर अवश्य आया।" डा० रामकुमार वर्मा

———

प्रश्न २४—"कबीर आत्म-विस्मयकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार के समय दैनन्दिन-व्यवहार की दुनिया को छोड़ नहीं जाते और साधारण मानव-जीवन को भुला नहीं देते, उनके पैर मजबूती के साथ धरती पर जमे रहते हैं। उनके महिमा समन्वित और आवेगमय विचार धीर और सजीव बुद्धि तथा सहज भाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं जो सच्चे मरमी कवियों में ही मिलते हैं।" इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए। (नोट—ये वाक्य एवेलिन अंडरहिल ने कबीर के विषय में कहे हैं।)

उत्तर—गत प्रश्न में हम कबीर के उस स्वरूप का विवेचन कर चुके हैं जो लोक-जीवन से सम्बद्ध रहा है। युग द्रष्टा होने के साथ कबीर एक उच्च कोटि के परमयोगी और सन्त भी थे। यह उनके व्यक्तित्व का पूर्णतः वैयक्तिक पक्ष है। वे एक ऐसे सन्त और योगी हैं जो सदैव उस विरह एवं आनन्दमय लोक में विचरण करते रहते हैं जहाँ विरले ही साधक पहुंच पाते हैं। उन्होंने स्वयं को ऐसे लोक का वासी कहा है जहाँ बारह महीने बसन्त ऋतु की छटा विकीर्ण होती रहती है और जहाँ निरन्तर महारस (अमृत) की झड़ी लगी रहती है, जहाँ जाति, वर्ण और कुल का अस्तित्व नहीं है, जहाँ शारीरिक मिलन न होकर केवल भाव-मिलन या पूर्ण तादात्म्य होता रहता है; जहाँ पारब्रह्म निरन्तर क्रीड़ारत रहता है और जहाँ बिना तेल और बत्ती के ही अगम्य ज्योति का दीपक प्रज्वलित रहता है—

"हम बासी उस देश के जहँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै विकसै कंवल, तेज पुंज परकास॥
हम वासी उस देश के, जहवाँ बारह मास बसन्त।
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब सन्त॥
हम वासी उस देश के, जहाँ जाति, वरन कुल नाहिं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं ॥
हम वासी वा देस के, जहाँ पारब्रह्म का खेल।
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल ॥"

इसका कारण यह था कि कबीर साधना की उस अन्तिम अवस्था में पहुँच चुके थे जहाँ द्वैत की भावना का नाश होकर जीव और ब्रह्म का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। ऐसी अवस्था में पहुंच जाने पर जीव संसार के समस्त राग-विरागों से मुक्त होकर एकमात्र आनन्दस्वरूप ब्रह्म की अनुभूति में मग्न हो जाता है। वह ससीम और सान्त को छोड़कर उस असीम और अनन्त का तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। कबीर उसी अनन्त और असीम—'बेहद' में लय होकर शाश्वत सुख की नींद सो रहे थे—

"हद्द छाँड़ि बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहद के मैदान में, रहा कबीरा सोय ॥"

कबीर के इस स्वरूप को देखकर तो यह आभास होता है कि वे संसार से परे होकर केवल उस अनन्त सौन्दर्य में ही लीन हो गए। कबीर ने अपने आराध्य को पूर्ण एवं शाश्वत सौन्दर्यशाली माना है—

"कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ।
तेजपुंज पारस धणी, नैनू रहा समाइ ॥"

वे उसके 'रामरसायन' रूपी प्रेमरस का निरंतर पान करते रहते हैं—

"राम रसायन प्रेमरस, पीवत अधिक रसाल।"

और इस प्रेमरस का पान करने का परिणाम यह हुआ कि वे उसमें पूर्णरूप से मदमस्त हो गए—

"हरि रस पीया जांणिये, जे कबहुँ न जाइ खुमार।
मैमन्ता घूमत रहै, नाहीं तन की सार ॥"

इस प्रेमरस रूपी उज्ज्वल नीर का उन्होंने छककर पान किया मगर फिर भी प्यास न बुझी—

"काया कमन्डल भरि लिया, उज्ज्वल निर्मल नीर।
तन मन जोवन भर दिया, प्यास न मिटी सरीर ॥"

इस प्रेमरस से कबीर के जीवन की कायापलट हो जाती है। मन निर्मल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया है। उसकी चंचलता नष्ट हो चुकी है। इसलिए वे उसे पूरी ढील देते हैं—

"रे मन जाहि जहां तोहि भावै,
अब न तेरे कोई अंकुस लावै ॥
जहां जहां जाइ तहां तहां रामां,
हरि पद चीन्हि किया विश्रामा ॥"

इस प्रकार इस अपने आपको एक बार देख लेने मात्रा से ही किसी प्रकार के तर्क-वितर्क अथवा अपने दैनिक व्यवहार से भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता और अपना, इसके पहले का जीवन, आमूल परिवर्त्तित होकर नष्ट सा हो जाता है। कबीर का कहना है कि उस प्रभु के साथ भेंट करते ही मैंने अपने आप को खो दिया—

"अब क्या कीजै ग्यान विचारा, निज निरखत गत व्यौहारा।
× × × ×
कहै कबीर सो पाया, प्रभू भेंटत आप गंवाया।"

कबीर अपने आप को खोकर निरंतर उसी असीम के आनन्द में डूबे रहते हैं। इससे लगता है कि वे परमहंस योगी के समान सांसारिक जीवन की विषमताओं से बिल्कुल परे हो गए होंगे। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्होंने मायावादियों की भांति इस संसार को कहीं भी मिथ्या या निरर्थक नहीं कहा। वैसे तो यह भी देखा गया है कि बहुत से व्यक्ति संसार के मिथ्यात्व का ढिंढोरा पीटते हुए भी साधारण जन से भी अधिक संसार में लिप्त रहते हैं। परन्तु कबीर की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने कथनी और करनी में कभी भी अन्तर नहीं माना और न व्यावहारिक जीवन में ही इस अन्तर को आने दिया। इस आत्म-विस्मृतकारी परम उल्लासमय साक्षात्कार का सम्बन्ध उनकी व्यक्तिगत साधना से था परन्तु साथ ही उन्होंने केवल एक 'राम नाम' की ही उपासना करने की बात कहकर धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन करने का भी सन्देश दिया था।

दूसरी बात यह थी कि कबीर का व्यक्तित्व दूसरे सन्तों, ज्ञानियों, योगियों और भक्तों से भिन्न प्रकार का था। सूर की तरह उनका संसार श्रीनाथ जी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्दिर तक ही सीमित न होकर अत्यन्त विस्तृत था। वे हठयोग आदि की साधना करते हुए इस संसार की गतिविधि की तरफ सचेत एवं सतर्क रहते थे। ज्ञान की प्राप्ति के लिए उन्होंने लम्बे-लम्बे पर्यटन किए थे क्योंकि वे इस बात को भली भांति जानते थे कि यह दैनन्दिन व्यवहार और साधारण मानव जीवन ही उस परम आनन्दमय के साक्षात्कार करने का एकमात्र साधन था। वे इसी ससीम संसार के द्वारा उस असीम की कल्पना एवं साक्षात्कार कर सकते थे। क्योंकि इस संसार की क्षणभंगुरता और निरन्तर गतिशील परिवर्तन शीलता ही उस अपार अविनाशी एवं शाश्वत परमतत्व की स्थिति की ओर संकेत करती रहती है। क्योंकि इसकी सहायता के बिना उसकी कल्पना ही असम्भव है। इस विचित्र लीलामय संसार की विभिन्न क्रियायें ही तो हमें उसकी कल्पना करने को प्रेरित करती हैं। कल्पना का सदैव एक आधार होता है। इसी बात का समर्थन करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि कवि शब्द और अर्थ का सहारा लेकर अरूप रस की ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा और रंग का सहारा लेकर रूपातीत भाव को अभिव्यंजित करता है और भक्त भी नाम-रूप की सीढ़ियों से ही ऊपर उठकर अरूप और अनाम-तत्त्व के परम रूप के दर्शन करता है। इसी कारण वेदान्तियों एवं दार्शनिकों का निर्गुण ब्रह्म भक्तों के हाथों पड़कर सगुण हो जाता है। सगुण उस निर्गुण को प्राप्त करने का ही प्रथम साधन है। इसी कारण कबीर सगुण और निर्गुण के झगड़े को व्यर्थ बताते हुए, आकाश में उड़ते हुए भी, इसी संसार की दृढ़भूमि पर अपना पैर जमाये रहते हैं। सगुण और निर्गुण शब्दों का व्यवहार वे केवल तारतम्य बताने के लिये ही करते हैं और स्पष्ट घोषणा करते हैं कि इन दोनों में कोई भिन्नता नहीं है—

"संतो धोखा कासों कहिए,
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण
बाट छाँड़ि क्यों बहिए।"

सूर भी मूल रूप से उसी निर्गुण की लीला का गान करते हैं मगर निर्गुण अगम्य और वर्णनातीत है —"तातें सूर सगुण लीला पद गावै।"

सगुण और निर्गुण को कबीर ने एक दूसरे को समझने का साधन माना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। वैसे कबीर का आराध्य 'सगुण और निर्गुण से परे' है। उनका ऐसा ब्रह्म उनके 'रामनाम' से एकाकार हो उठा है। इसकी प्राप्ति के लिये कबीर साधक को सर्वप्रथम सद्-व्यवहार, सच्चरित्रता, सादगी एवं सरल जीवन व्यतीत करने का उपदेश देते हैं और इन्हीं गुणों द्वारा संसार का कल्याण सम्भव है। भटके हुए हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शाक्त आदि के बाह्याडम्बरों की कबीर ने इसी कारण इतनी घोर भर्त्सना की थी। उनका कहना था कि ये आडम्बर साधक को ब्रह्म से सदैव दूर रखते हैं। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता और बाह्याचारों का विरोध कर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। इन्हीं खंडनात्मक उक्तियों द्वारा वे भटके हुये संसार को सत्पथ पर चलने का उपदेश देते हैं। परन्तु साथ ही साथ उनकी अपनी व्यक्तिगत साधना भी चलती रहती है। वे अपनी निश्चित दिशा को भूलते नहीं। यह सहज भावना उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। जब साधक इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब संसार में रहता हुआ भी उस परमतत्व का साक्षात्कार करता रहता है। उसके मन के सम्पूर्ण कलुष धुल जाते हैं और संसार के इन कलुषों के प्रति उसके मन में विरक्ति आ जाती है जो स्वाभाविक होती है। कबीर की यह विरक्ति कलुषों के प्रति है, संसार के प्रति नहीं। यदि संसार के प्रति होती तो वे संसार को मिथ्या घोषित कर योगियों के समान हिमालय में तपस्या करने चले जाते। मगर कबीर के जीवन-चरित्र का विवेचन करते हुए हम देख आये हैं कि वे जीवन के अन्तिम क्षणों तक उस परम आनन्द स्वरूप के प्रेम में मतवाले रहकर भी इसी बहुधन्धी संसार में ही रहे थे और निरन्तर पाखंडों एवं भ्रमों का उन्मूलन करने का प्रयत्न करते रहे थे। ऐसी ही भावना वाला केवल एक और व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में दिखाई पड़ता है। वह है गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व। अन्त काल में दोनों ही संसार त्यागी महात्मा बन जाते हैं।

कबीर उस परम आनन्दमय के साक्षात्कार को सहज समाधि की भावना द्वारा करते हैं। यह भावना ही वह तत्व है जिसके कारण सच्चे मरमी कवियों की भांति उनके महिमा समन्वित और आवेगपूर्ण विचार नियंत्रित होकर निकलते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सन्तो सहज समाधि भली है।
जब से दया भई सतगुर की, सुरति न आन चली है ॥
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कुछ करौं सो पूजा।
घर बनखंड एक सम लेखों, भाव मिटावों दूजा ॥
शब्द निरन्तर मनवां राँचा, मलिन वासना लागी।
जागत सोवत ऊठत बैठत, ऐसी तारी लागी ॥
आँखन मूँधूं कानन रूंधू, काया कष्ट न धारूँ।
उघरे नैन साहब को देखूं, सुन्दर बदन निहारूँ ॥
कहहि कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परिगट करि गाई।
दुख सुख के वह परे परमपद, सो पद है सुखदाई ॥"

यह कबीर की पूर्ण आनन्दावस्था का चित्र है जब वे सुख दुख से परे परमहंस का पद प्राप्त कर निरन्तर अपने आराध्य का सामीप्य लाभ करते रहते हैं।

और यह सामीप्य-लाभ कोई अलभ्य वस्तु नहीं है क्योंकि जगत का कर्त्ता भक्त से कहीं दूर नहीं रहता। फिर उसे दुर्लभ मान कर बिसूर-बिसूर कर क्यों रोकर मरा जाय। इसके लिए "अपनपौ" का चीह्नना और स्थिर होकर बैठना ही यथेष्ठ है। इसी से भक्त को आनन्द मङ्गल की प्राप्ति हो सकती है—

"दूरहि करता थापि कै, करै दूर की आस।
जो करता दूरै हुते, तो को जग सिरजै आन ॥
जो जानो यह है नहीं, तो तुम धावो दूर।
दूर दूर से भ्रमि भ्रमि, निसफल मरो बिसूर ॥
आप अपुनपौ चीन्हहु, नख-सिख कहत कबीर।
आनन्द मंगल गावहू, होइ अपनपौ धीर ॥"

यह तो हुआ कबीर का आत्म-विस्मृतकारी परम उल्लासमय का साक्षात्कार।

कबीर वैष्णव मत से बहुत प्रभावित थे। प्रवृत्यात्मकता वैष्णव मत की प्रमुख विशेषता है। इसी के प्रभाव के फलस्वरूप कबीर लोक संग्रह करना ईश्वर प्रेरित कर्त्तव्य समझते थे। इसी के लिये—

१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मोहि आया दई दयाल दया करि काहू को समझाय।"

ऐसी स्थिति में कबीर अपने दयाल की आज्ञा का उल्लंघन कर साधारण जन एवं जीवन को कैसे भुला सकते थे। यहां एक दूसरा प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि इस प्रवृत्यात्मकता का उनकी वैराग्य भावना या निवृत्यात्मकता से कैसे मेल हो सकता है। साधुओं में वैराग्य भाव ही सब कुछ है! किंतु लोक में साधुओं की अपेक्षा लौकिक लोगों की संख्या अधिक है। इसीलिए कबीर ने उनके लिए प्रवृत्ति मार्ग का रूप सामने रख कर लोक-संग्रह करने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त वैराग्य से कबीर का तात्पर्य ज्ञान और मन की शुद्धि से है—

"कबीर जाग्या ही चाहिए
क्या गृह क्या वैराग्य।"

अपनी इसी भावना के कारण कबीर गृह-त्याग कर सन्यासी नहीं बने थे क्योंकि वे इसी विश्वास के कारण गृह में रहते हुए भी उस परम उल्लास मय का साक्षात्कार कर सकते थे और उन्होंने किया भी था। फिर ऐसी स्थिति में वे दुनियां के दैनन्दिन-व्यवहार को तथा साधारण जीवन को कैसे भुला सकते थे। इसके भुला देने से उनका लोक-संग्रहकारी रूप नष्ट हो जाता।

कबीर के जीवन-चरित्र से ज्ञात होता है कि वे परिवार वाले थे। उनके स्त्री-पुत्र-पुत्री आदि सभी कुछ थे। वे जुलाहे का पेशा कर उसी से अपनी जीविका चलाते थे। यद्यपि इसमें पूरा नहीं पड़ पाता था क्योंकि यह पेशा ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य नहीं था। आमदनी कम होती थी। उसका बहुत बड़ा भाग साधु-संतों के सत्कार में व्यय हो जाता था। परिणाम स्वरूप घर में कलह रहता था। उनकी माँ इस बात से दुखी रहती थी। कभी कभी बच्चों के भूखे मरने तक की नौबत आ जाती थी। कबीर ने एक स्थान पर खुद कहा है—

"लरकी लरिकन खैबो नाँहिं।"

कबीर के इस गृहस्थ-जीवन का प्रमाण उनके कतिपय चित्रों से भी सिद्ध होता है। ब्रिटिश-म्यूजियम वाले चित्र में एक कुटी बनी है। आश्रम का सा वातावरण है। कबीरदास जी नंगे बैठे हुये करघा चलाकर कपड़ा बुनते हुये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई दे रहे हैं। गले में एक कंठी है। दोनों तरफ दो चेले बैठे हुए हैं जिनमें से एक हिन्दू और दूसरा मुसलमान है। एक के हाथ में सितार है। इस चित्र से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर स्वयं अपनी जीविका का उपार्जन करते हुए 'राम' की आराधना में लीन रहते थे। उनके भक्त और गृहस्थ के रूप एक दूसरे से घुले मिले थे। इसका कारण यह है कि कबीर सच्चे मरमी संत कवि हैं। वे परम पद की प्राप्ति का आनन्द लेते हुए भी इसी संसार में रह कर इसके दैनन्दिन-व्यवहार और साधारण जीवन से घुले मिले रहते हैं। इसी कारण उनकी वाणी में जो आवेगमय और महिमा समन्वित विचार व्यक्त हुए हैं वे सहज भाव द्वारा नियंत्रित हैं। उनकी कथनी और करनी एक है। इसलिये उनके विचारों में स्वानुभूति की अभिव्यंजना है जिसमें लौकिक और पारलौकिक का अद्भुत एवं सुन्दर सम्मिश्रण है।

———

प्रश्न २५—"कबीर ने अपनी प्रखरभाषा और तीखी भाव-व्यंजना से जिस काव्य का सृजन किया वह साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण भले ही कर गया हो, किन्तु उसके द्वारा साहित्य और धर्म में युगान्तर अवश्य आया।" इस कथन की युक्तियुक्त मीमांसा कीजिये।

उत्तर—उपर्युक्त उद्धरण डा० रामकुमार वर्मा का है। इसके आगे आप लिखते हैं कि---"हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिक सीमा को तोड़ कर उन्हें एक ही भाव धारा में बहा ले जाने का अपूर्व बल कबीर के काव्य में था। अपने स्वाधीन और निर्भीक विचारों से उन्होंने सुधार के नवीन मार्ग की ओर संकेत किया। उनकी समदृष्टि ने ही उन्हें सार्वजनीन और सार्वभौमिक बना दिया।"

कबीर-विषयक डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी के उद्गार भी कबीर की इसी महानता का संकेत करते हैं। उन्होंने लिखा है कि---"युग का प्रतिनिधि अथवा लोकनायक उसे माना जा सकता है जो विभिन्न विरोधों में समन्वय स्थापित कर सके। हिन्दी साहित्य के हजार बर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ को झाड़ फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी-साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।"

उपर्युक्त डाक्टर द्वय के उपर्युक्त मत कबीर के साहित्यिक महत्व को सिद्ध कर देने के लिए यथेष्ठ हैं। कबीर के इस महान व्यक्तित्व के निर्माण में कबीर के समय की विभिन्न परिस्थितियाँ एवं उनकी अपनी अद्वितीय एवं प्रखर प्रतिभा ही मूल कारण रही हैं। इसलिए संक्षेप में पुनः उन परिस्थितियों का एक सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है जिनके कारण कबीर का काव्य अपने युग का प्रतिनिधि काव्य बन सका।

राजनीतिक परिस्थिति हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष के कारण अशान्तिमय हो रही थी। मुस्लिम आक्रमणों एवं देश की आन्तरिक फूट से देश जर्जर हो रहा था। राजपूत वीर कार्यों के अभाव में वीर-गाथाएं समाप्त कर चुके थे। धार्मिक क्षेत्र में शंकराचार्य ने बौद्धमत का उन्मूलन कर अद्वैत-वाद की स्थापना की परंतु जनता इससे संतुष्ट न हो सकी। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद ने कुछ सम्बल प्रदान किया पर महमूद गजनवी के गदा प्रहार ने हिन्दुओं के सम्मुख इसकी भी निस्सारता प्रमाणित कर दी। हिन्दुओं के राज्य और धन के साथ क्रमशः उनका धर्म भी जा रहा था। हिन्दी भाषा और साहित्य की तत्कालीन स्थिति भी अस्त-व्यस्त थी। हिन्दी ने कठिनता से अपना शैशव प्राप्त किया था। समाज में अन्ध विश्वास एवं कुरीतियाँ फैल रही थीं। धार्मिक विश्वास में अस्थिरता आ गई थी। मूर्त्ति पूजा और सगुणोपासना की जड़ें हिल गईं थीं। कबीर ऐसे ही संक्रांतिकाल में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने इन दो विरोधी—हिन्दू और मुस्लिम—संस्कृतियों का संघर्ष देखा एक निष्पक्ष एवं तटस्थ दर्शक की भाँति।

इस्लाम के आगमन ने भारतीय धर्म मत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर डाला था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति-व्यवस्था को पहली बार जबरदस्त ठोकर लगी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध हो उठा। बहुत से विद्वान इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे और अपने-अपने ढङ्ग पर भारतीय समाज और धर्म मत को सम्हालने का प्रयत्न कर रहे थे। विभिन्न मत-मतान्तर अपने-अपने सिद्धान्तों को दूसरे से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठ बताकर सारे समाज पर छा रहे थे। मत-मतान्तरों के इन झगड़ों एवं विद्वेषों से कंटकाकीर्ण बने हुए समाज में कबीर का आविर्भाव हुआ। उन्होंने राजनीति से दूर रहकर समाज और धर्म को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। उन्हें सौभाग्यवश इसके लिए सुयोग भी अच्छा मिल गया। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं, प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। डा० हजारी प्रसाद के शब्दों में इसी कारण वे—"मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन विन्दु पर अवतीर्ण हुए थे जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना। वे उसी प्रशस्त चौरस्ते पर खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दशा में गए हुए मार्गों के गुण-दोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीर का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।"

संक्रान्ति काल में पथ-प्रदर्शन करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को एक तरफ तो जनता में प्रचलित मूर्खताओं का भण्डाफोड़ करना पड़ता है और दूसरी तरफ समन्वय का मार्ग अपनाना पड़ता है। कबीर ने भी यही किया। उन्होंने राजनीति और आर्थिक समस्याओं के दलदल से दूर रहकर समाज और धर्म को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया। दोनों संस्कृतियों के मूलभूत सिद्धान्तों को शिरसा स्वीकार कर आडम्बरों का खंडन किया तथा केवल एक ईश्वर की उपासना करने की बात कही। तत्कालीन परिस्थितियों का बल एकत्र कर युग धर्म को पहचान कर ऐक निर्भीक मत की स्थापना की जिसमें ब्रह्म की एकता और 'समत्व' सिद्धान्त की भावना सर्वोपरि रही। जीवमात्र में उसी ऐक ब्रह्म की ज्योति है। इसलिये किसी भी क्षेत्र में ऊँच नीच की भावना नहीं होनी चाहिये। एकता की इसी प्रबल भावना को लेकर वह जनता के सम्मुख आये और उसी की बोली में विभिन्न वादों के वन में भटकती हुई जनता को सच्चा मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया। हिन्दुओं के समस्त धार्मिक साहित्य की रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति एवं अपभ्रंश में थी तथा मुसलमानों की अरबी और फारसी में। अतः साधारण जनता धर्म के शास्त्रीय ज्ञान से बंचित रहती थी। धर्म के ठेकेदार उस साहित्य की मनमानी व्याख्या कर उसे परस्पर विद्वेषी बनाते और भटकाते रहते थे। इसलिये कबीर ने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता की बोली में ही उसके पास पहुँचाया। भाषा में धर्म और जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाया और धर्म और दर्शन की ऐसी व्याख्या निरूपित की जिसे जनता आसानी से हृदयंगम कर सके। जीवन के हरेक अङ्ग की समीक्षा कर उन्होंने धर्म और जीवन को इतना सरल, सुगम और साधना सम्पन्न बनाया कि वह प्राण में निवास करने योग्य बन गया।

दर्शन के क्षेत्र में, मध्यकाल में, स्वतन्त्र चिन्ता की धारा में उश्रृङ्खलता का समावेश हो चुका था। सहजयान, बज्रयान, नाथपंथ, बाउल सम्प्रदाय, निरंजन सम्प्रदाय आदि इस क्षेत्र में अपना अपना पृथक राग अलाप रहे थे। कबीर ने इन सब को मर्यादित कर एक सात्विक और स्वतन्त्र विचारधारा को जन्म दिया जो लोकप्रिय बनी। कबीर से पूर्व एवं कबीर के समय में भी कुछ अन्य सम्प्रदाय भी इस सुधार भावना से प्रेरित होकर कार्य कर रहे थे जैसे दक्षिण के लिंगायत आदि सम्प्रदाय। इन्होंने धर्म सुधार के साथ-साथ समाज सुधार करने का भी प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में ये दर्शन के महत्व को भूल गए। परंतु कबीर ने अपने नवीन स्वतन्त्र दार्शनिक विचारधारा के आधार पर धार्मिक एवं सामाजिक सुधार किया इसलिये उनका प्रभाव सबसे अधिक पड़ा।

दूसरी तरफ इस्लाम के प्रचंड प्रभाव से हिन्दू जनता समूहों के रूप में धर्म परिवर्तन करती चली जा रही थी। कबीर ने इस स्थिति को भाँपा और उसे रोकने का यथासाध्य प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने इस्लाम से भी अधिक सरल, व्यावहारिक और बुद्धिवादी धर्म की स्थापना कर जनता में स्वतंत्र विचार की प्रवृत्ति जागृति की और इस प्रकार देश को मुस्लिम धर्म के मोहपाश से बहुत कुछ बचा लिया। यदि कबीर ऐसा न करते तो इस्लाम सारे भारत पर छा जाता। इसका परिणाम यह होता कि आज भारत में हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों का प्राधान्य होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सामान्य-धर्म की प्रतिष्ठा कर इस मनीषी ने जनता में अहिंसा, जीवन, सुजनता, सात्विकता आदि मानवीय गुणों का प्रचार किया। मानवता के इस एकनिष्ठ उपासक ने शुद्ध भाव से अपने सिद्धान्तों और विचारों का प्रकाशन किया। कबीर सत्य के उपासक थे। उनका सम्पूर्ण जीवन गांधी के समान सत्य के विभिन्न प्रयत्नों से परिपूर्ण था। इसलिए उनकी कथनी और करनी में कभी भी अन्तर नहीं आया। फिर आजकल के उच्चवर्गीय नेता जिस प्रकार निम्न वर्ग के प्रतिनिधि बनकर उनकी हिमायत करते हैं, वैसे कबीर ने पीड़ितों का समर्थन नहीं किया बल्कि स्वयं उसके अंग बन कर रहे। तभी उनकी वाणी में इतनी प्रखरता और व्यक्तित्व में इतना अक्खड़पन आ गया था। उन्होंने स्वयं जैसा जीवन व्यतीत किया उसी की छाया उनके सिद्धान्तों पर पड़ी। इसलिए पूर्ण रूप से व्यावहारिक होने के कारण उनका धर्म विश्व के उन उच्चतम मानवतावादियों के धर्म के समकक्ष जा बैठा जो साम्प्रदायिकता से कभी समझौता नहीं करते। यह तो हुआ कबीर के धार्मिक एवं सामाजिक समन्वय का रूप। अब उनके साहित्य के रूप को भी देख लिया जाय।

ऊपर हम कबीर की भाषा एवं भाव-व्यंजना विषयक डा० राजकुमार वर्मा का मत उद्धृत कर चुके हैं। कबीर पढ़े लिखे नहीं थे, छन्द शास्त्र और अलंकारों के शास्त्रीय ज्ञान से भी वे वंचित थे। वे तो सिर्फ प्रेम का ढाई अक्षर पढ़ कर पंडित बने थे। आचार्य शुक्ल के शब्दों में उनमें अद्भुत प्रतिभा थी। परन्तु काव्य के क्षेत्र में केवल प्रतिभा से ही तो काम नहीं चल सकता। उसके लिए किसी गुरु के चरणों में बैठकर शिक्षा और अभ्यास प्राप्त करने की भी नितान्त आवश्यक होती है। कबीर के पास ऐसा कुछ भी नहीं था। परन्तु शिक्षा और अभ्यास की कमी को उनके सत्संग, अनुभव एवं विशाल पर्यटन से उपार्जित ज्ञान ने बहुत सीमा तक पूरा कर दिया था। बहुश्रुत होने के ही कारण उनके काव्य में विभिन्न प्रकार के कवि-समयों, प्रतीकों तथा अलंकारों की सुन्दर छटा का समावेश हुआ था। उनके रूपक एवं उलटवासियों के विरोधाभास तो अद्वितीय माने जाते हैं।

कबीर का मुख्य उद्देश्य कविता करना नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया था कि—

"तुम्ह जिनि जानौ गीत है, यहु निज ब्रह्म विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥"

कविता करने में वे इस विचार से अनुप्राणित जान पड़ते हैं कि—

"हरिजी यहै विचारिया, साखी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं, जे कोई पकड़ै तीर॥"

इसके अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य-रचना को कबीर कोरा 'कविकर्म' मानते हैं—

"कवि कवीनैं कविता मूये।"

इससे सिद्ध होता है कि कबीर ने कविता के लिए कविता नहीं लिखी थी। कविता तो उनके लिए अपने विचारों तथा भावों को जनता तक पहुँ-चाने की माध्यम थी। उनके हृदय में सचाई थी और आत्मा में बल इसीलिए उनकी वाणी में इतनी प्रखरता एवं शक्ति आ गई थी। उनकी वाणी की यह शक्ति ही काव्यगत सरसता बन कर पाठक के हृदय को अनुप्राणित कर देती है। काव्य के रागात्मक तत्व से हृदय स्पर्शिता और तन्मयता की परख की जाती है और बुद्धि तत्व से कवि द्वारा उपस्थित किए हुए श्रेष्ठ विचार और सन्देश देखे जाते हैं। कल्पना तत्व द्वारा वस्तु की चित्रांकनता और नवनिर्माण देखा जाता है। कबीर के काव्य में बुद्धि तत्व की विचारों की श्रेष्ठता और सन्देश तथा रागात्मक तत्व की हृदय स्पर्शिता एवं तन्मयता तो प्रचुर मात्रा में हैं परन्तु उसमें कल्पना-तत्व की न्यूनता है। और यह विशेषता सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य और सम्पूर्ण सन्त साहित्य में पाई जाती है। शिक्षा और शास्त्रीय ज्ञान के अभाव के कारण उनमें स्पष्टता नहीं आ पाई है। खंडन-मंडन प्रधान काव्य में रागात्मकता का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जहाँ कबीर ने अपने अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्म-विभोर होकर विरह और व्यथा का वर्णन किया है वहाँ रागात्मक तत्व अपनी पूर्ण तन्मयता और हृदय स्पर्शिता के साथ साकार हो उठा है। उनके विरह के पदों में मीरा की सी तन्मयता, सूर की सी सरसता और विद्यापति का सा सौन्दर्य है। अटपटे छन्द, अस्पष्ट रूपक और अशुद्ध अलंकारों के रहते हुए भी उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति-भावना वाले पद हृदय को स्पर्श कर लेते हैं। इसके मूल में उनकी गम्भीर तन्मयता ही कार्य कर रही थी।

उनकी भाषा सधुक्कड़ी है। उसमें विभिन्न भाषाओं का मिश्रण है। इसका कारण यह था कि उन्होंने—"संस्कृत के कूपजल से छुड़ा कर भाषा के 'बहते नीर' में सरस्वती को स्नान कराया।''''क्योंकि उनका लक्ष्य भाषा नहीं थी और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।" कबीर की भाषा के इसी जन-रूप का मुक्त कंठ से स्वागत करते हुए प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डाक्टर रामविलास शर्मा ने लिखा है—"आज देश के नए सांस्कृतिक जागरण के लिये हमें ऐसी वाणी, ऐसे अलंकार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक ही तंत्र में तमाम जनता को बांध सके। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने, विशेष रूप से सन्त कवियों ने, अपनी वाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।" सन्त-साहित्य पर भाषा एवं शैली की अशुद्धता विषयक आक्षेप का शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विवेचन करते हुए एक बार महाकवि रवीन्द्र ने कहा था—"नई हिन्दी कविता से पुरानी संत वानी की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक में कौशल ज्यादा है लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता में सत्य अपने सहज वेश में प्रकट होता है वही अमर होती है और उस पर काल का दाग नहीं पड़ता।" सन्त-वाणी ऐसा ही अमर काव्य है।

उपर्युक्त युग-प्रवर्त्तक मनीषियों के उपरोक्त कथनों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर-साहित्य में तथाकथित साहित्यिक मर्यादाओं का अतिक्रमण नहीं हुआ है। ऐसा आक्षेप केवल बिहारी आदि को ही साहित्यिक मर्यादाओं के स्थापक समझने वाले आलोचक ही कर सकते हैं। कबीर का साहित्य शुद्ध जन-वादी साहित्य है।

प्रश्न २६—"कबीर और तुलसी के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे।" इस कथन की तर्क पूर्ण समीक्षा कीजिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर—साहित्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। अपने समय के समाज में प्रचलित विचारधाराओं, नियमों, उपनियमों आदि के प्रति उसकी दृष्टि सदैव सतर्क रहती है। इन सब में जो व्यक्ति समन्वय कर सके वही लोक नायक कहा जाता है। यह 'समन्वय' करने की शक्ति उसी व्यक्ति में हो सकती है जिसका दृष्टिकोण संकुचित होने के स्थान पर विशाल एवं उदार होता है। इसके लिए, साथ ही, सुलझी हुई एवं तीव्र निरीक्षण बुद्धि, विशाल अध्ययन एवं गम्भीर मनन एवं चिन्तन भी आवश्यक होता है। युगधर्म से प्रभावित तो साधारण से साधारण व्यक्ति भी होते रहते हैं परन्तु उनमें युग के विपरीत चलने की शक्ति नहीं होती। यह तो केवल 'युग पुरुष' अथवा लोकनायक में ही होती है। ऐसा व्यक्तित्व क्रान्तिकारी होता है। उसी के व्यक्तित्व में तत्कालीन युग साकार हो उठता है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल में अनेकानेक यशस्वी एवं प्रतिभावान कवि हुए हैं। कवियों के इस विशाल समूह में केवल दो ही व्यक्तित्व ऐसे शक्तिशाली दिखाई पड़ते हैं जिनमें उनका युग एवं समाज प्रतिबिंबित हो उठा है। ये व्यक्तित्व हैं गोस्वामी तुलसीदास और महात्मा कबीर। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के विषय में कहते हैं कि—"महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टि-कोण में एक दम भिन्न थे।"

कबीर और तुलसीदास के इस अन्तर को डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा किये गए योगियों एवं दक्षिण के भक्तों के तुलनात्मक विवेचन से कुछ सीमा तक समझा जा सकता है। वे कहते हैं कि—"कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी। उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एक के लिए समाज की ऊँच-नींच-भावना मजाक और आक्रमण का विषय थी, दूसरे के लिए मर्यादा और स्फूर्ति का। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओं को अन्याय समझकर भी व्यक्ति को सबके ऊपर रखता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चता का अधिकारी होकर भी अपने को 'तृणादपि सुनीचेन' (तृण से भी गया-गुजरा) समझता था। ··· भक्त जाति-भेद, वर्णाश्रम-व्यवस्था और उच्च-नीच मर्यादा को शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपने को भवसागर में भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था·······और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान उसके हार्दिक अनुताप को जरूर सुन लेंगे और भव बन्धन से उसे मुक्त कर देंगे। एक को अपने ज्ञान का गर्व था दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिंड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरे के लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड; एक का भरोसा अपने पर था और दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था दूसरा भक्त।" यह तुलना निश्चयात्मक रूप से कबीर और तुलसी की तुलना है। दोनों के मौलिक अन्तर उपर्युक्त ही हैं।

प्रत्येक साहित्यकार अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। कबीर और तुलसी भी अपने-अपने युग से प्रभावित थे। कबीर के युग की परिस्थितियों का विश्लेषण हम पीछे कर चुके हैं। अतः उसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ है। यहाँ केवल तुलसी के युग की परिस्थितियों का संक्षिप्त विश्लेषण अपेक्षित है।

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति तुलसी द्वारा 'रावण राज्य' के रूप में चित्रित की गई है। रावण के शासन की अनीतियों के रूप में तुलसी ने अपने समय की मुगल-शासन नीति का व्यंग्यपूर्ण एवं यथार्थ चित्र अङ्कित किया है। देखिए—

"भुज बल वस्य विस्व करि, राखेसि कोऊ न स्वतंत्र।
मण्डलीक मनि रावन, राज करै निज मन्त्र॥
जेहि विधि होइ धरम निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला।
जेहि-जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाँव पुर आग लगावहिं
वरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवनि मिति

शासकों के इस दमन एवं अत्याचारों से परिपूर्ण राजनीति से दुखी होकर उन्होंने अनेक स्थलों पर राजनीति के आदर्शों का निरूपण किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज एवं राज्य के सुचारु संचालन के लिए राजा के प्रति श्रद्धा आवश्यक है—

"साधु सुजान सुशील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला॥"

ऐसे ही राजा ईश्वर के अंश होते हैं। इसलिए उनका यह धर्म हो जाता है कि वह सब को सुखी रखे। यदि ऐसा नहीं होगा तो—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥"

"मुखिया मुखु सो चाहिए, खान पान कहुँ एक।
पालै पोषै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥"

सामाजिक दशा यह थी कि—

"बरन धाम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति वंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुशासन"

इसी को देखकर तुलसी ने मर्यादा पर विशेष बल दिया है।

तुलसी-कालीन धार्मिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि—"जिस उपासना प्रधान धर्म का जोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर—जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ-साथ शिथिल पड़ गई थी—कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था।" उस समय नये-नये सम्प्रदायों की खींचतान के कारण आर्य धर्म का व्यापक रूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू-तू मैं-मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिए भी अपढ़ जनता को अपने साथ लगाने वाले कई नए पंथ निकल आए थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग-ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निन्दा, विद्वानों का उपहास, वेदांत के दो-चार शब्दों का अनधिकार प्रयोग आदि ही प्रधान था। दम्भ बढ़ रहा था। "ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसर बात।" ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। भक्ति के नाम पर ही वे वेद-शास्त्रों की निन्दा करते थे, पण्डितों को गालियाँ देते थे और आर्य धर्म के सामाजिक तत्व को न समझ कर लोगों में वर्णाश्रम धर्म के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। [illegible] उन्होंने इन सब बातों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्वानुभूति के द्वारा निस्सारता समझकर ही खंडन किया था। इसलिए उनके कथन में सच्चाई और दृढ़ता थी। तुलसी के समय में ये विचारधारायें सम्प्रदायों के रूढ़िवादी अज्ञानी लोगों के हाथों पड़ कर अनर्थ कर रही थीं। इनसे कबीर का उद्देश्य नष्ट हो रहा था। वैष्णव धर्म पर आक्रमण हो रहे थे। तुलसी ने इनसे विरोध करने की नीति न अपना कर उनके आदर्शों को भी अपने मत में मिला लिया। इस सहिष्णुतापरक नीति ने धार्मिक विरोधों का उन्मूलन करने में बहुत बड़ा योग दिया।

ये थीं तुलसी के समय की परिस्थितियाँ जो कबीर के समय से कम जटिल नहीं थीं। कबीर भी इन परिस्थितियों से दुखी और क्षुब्ध थे और तुलसी भी। इसीलिए दोनों ने समन्वय का मार्ग अपनाया था, यद्यपि दोनों का मार्ग भिन्न था। इसका कारण उनके स्वभाव, संस्कार एवं दृष्टिकोणों की भिन्नता ही था।

कबीर का जन्म निम्न जुलाहा कुल में हुआ था इसलिए सवर्णों के आडम्बरों एवं अत्याचारों के प्रति उनमें स्वाभाविक विरोध की भावना थी। यह भावना व्यक्तिगत न होकर सामाजिक ही अधिक थी। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि भक्ति के क्षेत्र में—"जाति-पाँति पूछें नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।" इस प्रकार उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध किया था।

तुलसी का जन्म उच्च संस्कारी ब्राह्मण कुल में हुआ था। संस्कारों के अनुरूप ही व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है। ब्राह्मण सदैव से समाज-व्यवस्था का शासक रहा है। इसी कारण तुलसी ने वर्णाश्रम धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की। परन्तु इसके मूल में तुलसी का बहुकथित ब्राह्मणवाद कार्य नहीं कर रहा था बल्कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था की विश्रृंखलता ही इसका मूल कारण थी। उन्होंने देखा था कि चातुर्वर्ण्य अपने-अपने कर्त्तव्यों से विरत हो गए हैं जो इस विश्रृंखलता का मूल कारण है। इसलिये उन्होंने रामकथा के द्वारा एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप उपस्थित किया जिसमें प्रत्येक जाति अपने-अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण पालन करती है। कबीर उच्च वर्णों के आडम्बरों के विरोधी थे परन्तु फिर भी उन्होंने वैष्णवों की प्रशंसा की है। इसका अर्थ यह है कि वे केवल जाति का दम्भ रखने वालों के ही विरोधी थे। उन्हें क्रोध तब आता था जब ब्राह्मण अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेष्ठता के पद में अन्त्यजों को नीच एवं हेय समझते थे। तुलसी भी इसे बुरा समझते थे। राम का निषाद से गले लगकर मिलना एवं शबरी के झूठे बेर खाना आदि घटनाएं इसकी उदाहरण हैं। तुलसी पर 'शम्बूक वध' के कारण प्रतिक्रियावादी ब्राह्मण होने का आरोप लगाया जाता है परन्तु आलोचक भूल जाते हैं कि यह कथा 'क्षेपक' है।

कबीर और तुलसी के वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध एवं समर्थन की जड़ में दोनों के विभिन्न दृष्टिकोण ही उत्तरदायी हैं। कबीर निम्नवर्ग के होने के कारण उच्चवर्ग के घोर विरोधी थे और एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें जाति-भेद न हो। इसके विपरीत तुलसी उस वर्ण-व्यवस्था का समर्थन कर के भी उसमें उचित सुधार के इच्छुक थे। कारण यह कि वे "नाना पुराण निगमागम सम्मत' पथ के अनुयायी थे और कबीर किसी भी आप्तवाक्य को स्वीकार न कर केवल अपने अनुभव के द्वारा जिसे या शुभ अशुभ समझते थे उसी का खंडन एवं मंडन करते थे। तुलसी परम्परा के प्रेमी थे और कबीर परम्परा के विध्वंसक। इसी कारण तुलसी विरोध करते हुए भी शालीन रह कर मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने देते जब कि कबीर विरोध के समय अत्यन्त उग्र हो उठते हैं और कहनी अनकहनी बात कह जाते हैं। क्योंकि उनके पास अपने मत की पुष्टि के लिए प्रखर भाषा एवं तीखी भाव-व्यंजना के अतिरिक्त और कोई भी साधन नहीं है। परन्तु तुलसी विद्वान थे। उन्होंने अपने मतों का आधार आप्तवाक्यों को बनाया था। इसी कारण कबीर के वाक्य विद्वानों में अमान्य माने जाते हैं जब कि तुलसी विद्वानों में मान्य होने के साथ ही साथ आधुनिक सामाजिक एवं धार्मिक मर्यादाओं के एक-मात्र विधायक के रूप में पूजे जाते हैं।

कबीर और तुलसी दोनों ही जन-कल्याण के अभिलाषी थे, उच्चकोटि के भक्त थे। कबीर भगवान के निर्गुण स्वरूप को ही ग्राह्य, आनन्दस्वरूप एवं दयालु समझ कर भव सागर से पार होने के लिये, आत्मज्ञान द्वारा उसी की उपासना करने पर जोर देते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने भगवान का नाम राम माना है परन्तु उनके राम तुलसी के दाशरथी राम से पूर्णतः भिन्न हैं—केवल स्वरूप में, गुण में नहीं। गुण दोनों के ही एक से हैं। तुलसी ब्रह्म के दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपों सगुण और निर्गुण—को स्वीकार करते हैं परन्तु उनका विशेष पक्षपात सगुण रूप भगवान राम के ही प्रति है। 'रामचरितमानस' में निर्गुण और सगुण रूप के प्रति पार्वती की शंका के उत्तर में शिवजी नाराज होकर कहते हैं—

"तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिशाच।
पाखंडी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न सांच॥"

यह रोष वास्तव में कबीर के निर्गुण राम के स्वरूप के ही प्रति प्रतीत होता है जिन्होंने कहा था कि "राम नाम का मरम न आना।" तुलसी का मत है कि निर्गुण का रूप सुलभ है और सगुण का अगम्य। इसीलिए सगुण रूप समझ में नहीं आता—

"निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥"

कबीर का ब्रह्म निरूपण पूर्णतः स्वानुभूति पर निर्भर होने के कारण 'मुखमाथा हीन' तथा 'पुहुपवास से पातरा' है। उनका साकार रूप कभी प्रकट नहीं होता और न वे भक्तों की सहायता करने के लिए ही प्रकट होते हैं। इधर तुलसी के राम साकार होने के कारण शील, शक्ति और सौन्दर्य से समन्वित हैं और प्रह्लाद की रक्षा के लिए, कबीर के अन्तर में व्याप्त ब्रह्म के समान, अप्रकट न रहकर खम्भा फाड़ कर प्रकट होते हैं—

"अन्तर्जामी ते बड़ बाहर जामी हैं राम जो नाम लिये तें।
पैज परै प्रह्लाद के प्रकटे प्रभु पाहन ते न हिये तें॥"

यह अन्तर भी पृथक-पृथक उपासना पद्धतियों का ही परिणाम है। श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा दोनों की ही एक सी अटूट एवं दृढ़ है। तुलसी ने सुचारु-समाज व्यवस्था के लिए ही ऐसा नहीं किया वरन सामान्य जनता को सरल उपासना मार्ग पर लाने के लिए ही सगुण रूप ही स्थापना की है।

कबीर की भक्ति प्रेम मूलक है। उन्होंने भगवान से पिता, माता, स्वामी आदि का नाता भी माना मगर प्रधानता दाम्पत्य भाव की ही है। उन्होंने भक्ति की चरम परिणति दाम्पत्यभाव में ही मानी है। इसीलिए कहा है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"राम मेरे पिउ मैं तो राम की बहुरिया।" उनका निर्गुण राम से वही संबंध है जो दुलहिन का अपने भरतार से होता है। तुलसी भी राम से अनेक नाते मानते हैं—"मोहि तोहि नातो अनेक मानिए जो भावै", परन्तु उन्होने सर्वोपरि प्रधानता सेव्य-सेवक भाव को ही दी है क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास है कि—"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।" सम्भवतः तुलसी ने इस सेव्य-सेवक भाव को इसलिए सबसे अधिक माना था क्योंकि वे मर्यादावादी थे और इस बात को जानते थे कि दाम्पत्य भाव से अश्लीलता का समावेश हो सकता है। उनका यह भय ठीक भी था। कृष्ण भक्तों की कृष्ण गोपियों की प्रेम मूलक भक्ति ने जो रूप धारण कर लिया वह इसका प्रमाण है। कबीर सूफियों से इस क्षेत्र में प्रभावित माने जाते हैं यद्यपि मूल रूप से उन्होंने नारदीय भक्ति के प्रेम मूलक स्वरूप को ही स्वीकार किया है। कबीर की अक्खड़ता उन्हें सेव्य-सेवक भाव में अनुरक्त नहीं कर सकी है।

भक्तों में ज्ञान और भक्ति का झगड़ा बहुत दिनों से चला आरहा है। कबीर और तुलसी ने भी इस प्रश्न को उठाया है और अन्त में ज्ञान का खंडन कर भक्ति की ही श्रेष्ठता स्थापित की है। यद्यपि दोनों के प्रकारों में अन्तर है। कबीर 'भाव-भगति' को ही एकमात्र साधन मानते हैं—

"भाव भगति विसवास विन, कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल॥"

वे कर्म मार्ग को व्यर्थ मानते हैं—

"करम करत बद्धे अहंमेव, किल पाथर की करहीं सेव।
कहु कबीर भगति कर पाया, भोले भाइ मिलै रघुराया॥"

इस भक्ति के सम्मुख वे जप, तप, संयम, व्रत, स्नानादि को व्यर्थ समझते हैं—

"क्या जप क्या तप क्या संजम क्या व्रत क्या अस्नान।
जब लगि जुक्ति न जानिये भाव भक्ति भगवान॥"

साथ ही वे ज्ञान को भी इसके सम्मुख झूठा ठहराते हैं—

"झूठा जप तप झूठा ज्ञान राम नाम बिन झूठा ध्यान।"

आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि को ज्ञानाश्रयी शाखा का सन्त माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इनमें ज्ञान की प्रधानता न होकर भक्ति की ही प्रधानता है। ज्ञान की गम्भीरता और गुरुता का इनमें अभाव है। इसी कारण डा० श्री कृष्णलाल इस शाखा को ज्ञानाश्रयी न मानकर ज्ञानाभासाश्रयी मात्र मानते हैं।

तुलसी तो भक्त हैं ही और वह भी सगुण रूप के। इसी कारण उन्होंने भक्ति को सबसे श्रेष्ठ माना है—

"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छ प्रद वेद बखाना ॥
जाते बेगि द्रवौं में भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥"

और इससे वे इस महान धार्मिक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥"

उनके सम्मुख जब ज्ञान और भक्ति का प्रश्न उपस्थित होता है तो वे उत्तरकाँड के उत्तरार्ध में गरुड़ द्वारा काक भुसुंडि से पुछवाते हैं—

"एक बात प्रभु पूछौं तोही। कहौ बुझाइ कृपानिधि मोही।
ज्ञानहि भगतिहि अन्तर केता। सकल कहौ प्रभु कृपा निकेता ॥"

परम ज्ञानी काक-भुसुंडि इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

"भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं प्रभु सम्भव खेदा ॥"

परन्तु इतनी बात अवश्य है कि—

"ज्ञान को पंथ कृपान की धारा। परत खगेस होंहिं नहिं बारा।"

इसीलिये भक्ति सबसे सरल है। इस भक्ति के निरूपण में शास्त्रीयता का आश्रय हैं, हठ धर्मी नहीं। यहाँ कबीर की तरह अक्खड़पन नहीं है। वही बात अत्यन्त शालीनता पूर्वक मर्यादित भाषा में कह दी गई है। यह अन्तर स्वभाव और संस्कारों की भिन्नता के कारण है।

कबीर भक्ति के द्वारा भवसागर को पार करने वाले थे। उनकी 'भाव-भगति' में व्यक्तिगत साधना का ही रूप अधिक प्रबल है। उनकी इस भक्ति में भगवान का स्वरूप एक प्रेमी का है जिसकी प्रेम की ही मर्यादा है, प्रेम की ही लीला है और प्रेम की ही विनय है। उनमें सगुण भगवान की ललित नर-लीला का पूर्ण अभाव है। इसके विपरीत तुलसी के राम की नर-लीला समाज की आदर्श और ललित है। उन्होंने भक्ति और लीला का अतिशय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्यादित रूप उपस्थित किया है। इसका कारण यह है कि तुलसी ज्ञानी और पण्डित थे, आगम, निगम, पुराण तथा षट्शास्त्र के ज्ञाता थे। भगवान की लीला के द्वारा वे समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे। उन्हें समाज के साथ, इस लोक के साथ चलना था और परलोक की भी साधना करनी थी। वे जानते थे कि यदि समाज के सम्मुख कोई मर्यादित आदर्श नहीं रखा गया तो समाज पथभ्रष्ट हो जायगा। इसीलिये उन्होंने 'श्रुति सम्मत हरिभक्त पथ' का निर्माण किया। उन्होंने इस सीधे मार्ग से भटकने वालों को खूब आड़े हाथों लिया है। यौगिक क्रियायों और रहस्यात्मकता को वे साधारण जनता के लिए असाध्य मानते हैं। इसी कारण उनका यह 'श्रुति सम्मत हरिभक्त पथ' सर्व साधारण में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। समाज में अपेक्षित गुणों की स्थापना कबीर ने भी की है और बड़े सशक्त शब्दों में की है परन्तु उनके पीछे सर्व साधारण की समझ में आने वाले परम्परागत विचारों का, भक्ति के क्षेत्र में अभाव रहा है। जनता उनकी रहस्यात्मक उक्तियों से आश्चर्य चकित अवश्य हुई है परन्तु उसका हृदय उसे पूर्ण रूप से अपना नहीं सका है। हम आप्त वाक्यों से समर्थित बातों को शीघ्र स्वीकार कर लेते हैं परन्तु जब कोई कहता है कि तुम सब मूर्ख हो, ज्ञानी केवल मैं ही हूँ तो थोड़ी सी भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति इस बात को स्वीकार करने में हिचकिचाने लगता है। यही अन्तर तुलसी और कबीर की भक्ति प्रणाली में है। वैसे दोनों ही समाज के कल्याण की कामना करने में पूर्ण एकनिष्ठ हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में तुलसी कबीर से बहुत श्रेष्ठ हैं। इसे एकमत से सारे आलोचकों ने स्वीकार किया हैं। इसमें भी उनके संस्कारों का तथा दृष्टिकोणों का प्रभाव है। तुलसी विद्वान थे और कबीर केवल बहुश्रुत। कबीर कविता को तुच्छ और सन्देश को प्रधान समझते थे। तुलसी संदेश एवं अभिव्यक्ति दोनों को महत्व देते थे। उनके लिए कवि कर्म उपेक्षित नहीं था। इसी कारण उनके काव्य का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक गहरा और स्थायी है। जहाँ कबीर केवल सन्त और भक्त हैं वहाँ तुलसी संत, भक्त और कवि हैं। दोनों के काव्य-सौंदर्य में इसी कारण पर्याप्त अन्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति-धर्म के प्रचार की दृष्टि से तुलसी और कबीर दोनों ही अपने-अपने समय के एकमात्र प्रतिनिधि हैं। दोनों ही भक्त, समाज-सुधारक, धर्म प्रचारक और प्रखर प्रतिभा सम्पन्न हैं। दोनों के उद्देश्यों के मूल समान हैं। परन्तु विपरीत परिस्थितियों, संस्कारों और उन संस्कारों के कारण उत्पन्न स्वभाव तथा दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण दोनों के मार्गों में पर्याप्त अन्तर एवं विरोध है। उन्होंने लाखों करोड़ों जनता का हित किया है, दलितों और पीड़ितों को सही रास्ते पर लाकर मुक्ति का मार्ग दिखाया है। अन्तर केवल इतना ही है कि कबीर में स्वभावगत अक्खड़ता है, मस्ती है और निर्भयता है परन्तु इन गुणों पर तुलसी की सी शालीनता, नम्रता एवं परिष्कृत भावना का प्रभाव नहीं है। यही दोनों में मौलिक अन्तर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्याधर स्मृति संग्रह

04367

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बी० ए०, एम० ए०, साहित्यरत्न, विशारद, भूषण, प्रभाकर साहित्य भूषण, साहित्यालङ्कार, विदुषी, सरस्वती तथा अन्य सभी उच्च परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये

सहायक पुस्तकें—

आलोचनात्मक अध्ययनः-

(प्रश्नोत्तर रूप में)

१—तुलसीदास —श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए० २॥)
२—सूरदास —श्री वासुदेव शर्मा शास्त्री एम० ए० २॥)
३—कवि प्रसाद —श्री शम्भुनाथ पाण्डेय एम० ए० २॥)
४—गद्यकार प्रसाद ,, ,, ,, २॥)
५—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र —श्री रामजीलाल बधौतिया एम० ए० २॥)
६—भाषा विज्ञान —श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए० २॥)
७—साहित्यालोचन ,, २॥)
८—कामायनी ,, १)
९—प्रियप्रवास ,, १)
१०—साकेत ,, १॥)
११—बिहारी ,, २॥)
१२—जायसी ,, २॥)
१३—उद्धव-शतक (टीका तथा प्रश्नोत्तर) ,, २॥)
१४—कबीर —श्री राजनाथ शर्मा एम० ए० २॥)
१५—हिन्दी-साहित्य का इतिहास ,, २॥)
१६—हिन्दी भाषा का इतिहास ,, २॥)
१७—संस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री द्वारिकाप्रसाद एम० ए० २॥)

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल-रोड, आगरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar